प्रमुख धर्मसूत्रों में वर्णित लोकाचार की वर्तमान सन्दर्भ में प्रासंगिकता

(गौतम, बौधायन, आपस्तम्ब, वसिष्ठ एवं विष्णु धर्मसूत्रों तथा मनुस्मृति के विशेष सन्दर्भ में)

Pramukha Dharmasūtroṃ meṃ Varṇita Lokācāra kī Vartamāna Sandarbha meṃ Prāsaṃgikatā

(Gautama, Baudhāyana, Apastamba, Vasiṣṭha evaṃ Viṣṇu Dharmasūtroṃ tathā Manusmṛti ke Viśeṣa Sandarbha meṃ)

पीएच. डी. उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध - प्रबन्ध

शोधनिर्देशक

प्रो. सुधीर कुमार

शोधार्थी

गजेन्द्र कुमार

संस्कृत एवं प्राच्यविद्या अध्ययन संस्थान

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

नई दिल्ली -110067, भारत

2019

संस्कृत एवं प्राच्यविद्या अध्ययन संस्थान

SCHOOL OF SANSKRIT AND INDIC STUDIES

जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय

JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY

नई दिल्ली – ११००६७, भारत

NEW DELHI – 110067, INDIA.

Date 22 July 2019

DECLARTION

I declare that the Thesis entitled, **"प्रमुख धर्मसूत्रों में वर्णित लोकाचार की वर्तमान सन्दर्भ में प्रासंगिकता" (गौतम, बौधायन, आपस्तम्ब, वसिष्ठ एवं विष्णु धर्मसूत्रों तथा मनुस्मृति के विशेष सन्दर्भ में)** submitted by me for the award of degree of **Doctor of Philosophy** is an original research work and has not been previously published or submitted for any other degree in this University or any other University/Institution.

Gajender Kumar

संस्कृत एवं प्राच्यविद्या अध्ययन संस्थान
SCHOOL OF SANSKRIT AND INDIC STUDIES
जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
नई दिल्ली - ११००६७, भारत

NEW DELHI – 110067, INDIA.

Date 22/07/2019

CERTIFICATE

The Thesis entitled, **"प्रमुख धर्मसूत्रों में वर्णित लोकाचार की वर्तमान सन्दर्भ में प्रासंगिकता" (गौतम, बौधायन, आपस्तम्ब, वसिष्ठ एवं विष्णु धर्मसूत्रों तथा मनुस्मृति के विशेष सन्दर्भ में)** submitted by **Gajender Kumar** for the award of degree of **Doctor of Philosophy** to **School of Sanskrit and Indic Studies, Jawaharlal Nehru University, New Delhi-67,** is an original research work and has not been submitted so far, in part or full, for any other degree/diploma in any University/Institution.

This may be placed before the examiners for evaluation and for the award of the degree of **DOCTOR OF PHILOSOPHY.**

22/7/19

Prof. Sudhir Kumar

(Supervisor)

Dr. Sudhir Kumar Arya
Professor
Special Cetre for Sanskrit Studies
Jawaharlal Nehru University
New Delhi-110067

Prof. Girish Nath Jha

(Dean)

Dean
School of Sanskrit & Indic Studies
Jawaharlal Nehru University
New Delhi-11 INDIA

समर्पण

ज्ञान परम्परा का साक्षी

“ बोधि वृक्ष ”

को सादर समर्पित

जिसकी छाँव में ज्ञान धारा निरन्तर प्रवाहित होती रही है।

मंगलाचरण

“धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।

तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत्॥”

"अनन्तशास्त्रं बहुवेदितव्यम् अल्पश्च कालो बहवश्च विघ्नाः।

यत्सारभूतं तदुपासित्वयं हंसो यथा क्षीरमिवाम्बुमिश्रम्॥"

आभार कथन

“त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।

त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव, त्वमेव सर्वं मम देव देव॥”

जीवन को संघर्षमय बताने वाले, मेरे जीवन को सार्थक बनाने वाले, मेरे पिता श्री मदन पाल और त्याग की भावना से मुझे संस्कारित करने वाली माता श्रीमती वेद कौर जी के चरणों में प्रणाम करता हूँ। आज दोनों के तप और आशीर्वाद के परिणाम स्वरूप मैं यहाँ तक पहूँच पाया हूँ। इनके प्रति आभार, धन्यवाद, कृतज्ञता जैसे शब्द भी छोटे नजर आ रहे हैं। मैं इनके द्वारा किये गये उपकारों को कभी भी विस्मृत नहीं कर सकता हूँ।

किसी भी कार्य की सफलता का मार्ग सरल नहीं होता है। उसमें नित कोई न कोई विघ्न बाधा आती ही रहती है। इन कठिन मार्ग पर चलकर जो सहज रूप से सफलता को पा लेता है वह उसकी मिठास का अनुभव नहीं कर पाता है। अपने जीवन में पीएच. डी. उपाधि हेतु किए गये शोधकार्य में नित नई - नई समस्याओं का सामना करना पड़ा। अध्ययन के साथ साथ गृहस्थ आश्रम के भी उत्तरदायीत्व का निर्वहन भी करना होता था। इन्हीं विघ्न बाधाओं का सतत सामना करते हुए जिन गुरुजनों, आचार्यों, मित्रों, सहपाठियों की प्रेरणा से यह शोधकार्य रूपी यज्ञ सम्पन्न हुआ है। उनका नाम लेकर मैं उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञयापित करना चाहूँगा।

मैं इस शोधकार्य तथा उच्च शिक्षण के लिए मेरे प्रेरणास्रोत बाबा साहेब डॉ. भीम राव अम्बेडकर के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिन्होने सामाजिक बुराईयों को समाप्त करके सदा के लिए ज्ञान की धारा को सभी के लिए समान रूप से खोल दिया। समाज का प्रत्येक वर्ग इनके लिए उनका ऋणी है।

छात्र काल में जब संस्कृत ऐच्छिक विषय था तब मेरे ज्येष्ठ भ्राता श्री कृष्ण मोहन ने मुझे संस्कृत विषय लेने की प्रेरणा देकर मेरे जीवन को नया मोड़ दिया। तब से अब तक मेरा जुड़ाव संस्कृत भाषा से रहा है साथ ही इस समय सीमा में मैं श्री ब्रज मोहन शास्त्री, डॉ. जयपाल शास्त्री, प. इश्वरचन्द्र, डॉ. सूरेन्द्र कुमार पन्त, डॉ. रामेश्वर दत्त शर्मा, प्रो. शिव नारायण शास्त्री, डॉ. सूरेन्द्र मोहन मिश्र आदि गुरुजनों का सानिध्य मिला। गुरुजनों के आशीर्वाद और दिशानिर्देश का ही परिणाम है जो मुझे देश के प्रतिष्ठ विश्वविद्यालय से अपनी पढ़ाई करने का अवसर प्राप्त हुआ है। उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए मजबुत नीव्र बनाने का श्रेय इन सभी गुरुजनों को जाता है। इसके लिए मैं इनका कृतज्ञय हूँ तथा हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ।

प्रस्तुत शोधकार्य में सूर्य की भाँति अन्धकारमयी विघ्न बाधाओं को दुर करने वाले मेरे गुरुवर (शोधनिर्देशक) प्रो. सुधीर कुमार जी को प्रणाम करता हूँ, जिनके निर्देशन और प्रेरणा से यह शोधकार्य सम्पन्न हो पाया है। इनके सरल और सहज तरीके से विषय को तार्किकतापूर्ण उदाहरण के साथ समझाना मेरी समझ शक्ति बढ़ाने के साथ - साथ नवीन ऊर्जा का संचालन भी करता है। मैं इसके लिए अपने शोधनिर्देशक प्रो. सुधीर कुमार जी के प्रति कृतज्ञता तथा हृदय से आभार प्रकट करता हूँ। सभी शोधगत आई समस्याओं का समाधान के लिए तर्क और सही मार्ग दिखलाकर महोदय ने मुझे उपकृत किया है। शोधकार्य की पूर्णता इनके उचित दिशा निर्देशन का ही परिणाम है। इन सब के लिए महोदय का मैं कोटि - कोटि धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ।

संस्कृत एवं प्राच्यविद्या अध्ययन संस्थान के अध्यक्ष प्रो. गिरीश नाथ झा जी के प्रति मैं आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने एम. फिल् / पी. एच डी. के प्रारम्भ में हमें संगणक का ज्ञान दिया। उनके प्रदत्त ज्ञान से संगणक द्वारा लेखन कार्य निर्विघन सम्पन्न हो पाया है।

इसी क्रम में हमारे संस्कृत संस्थान संकाय सदस्य प्रो. चौडूरि उपेन्द्र राव, प्रो. रामनाथ झा, डॉ. संतोष कुमार शुक्ल, डॉ. रजनीश कुमार मिश्र, डॉ. हरिराम मिश्र, डॉ. सत्यमूर्ति, डॉ. गोपल लाल मीणा, तथा डॉ. टी. महेन्द्र, आदि गुरुजनों के प्रति भी मैं हृदय से धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ।

गुरुजनों का आशीर्वाद सदा मेरे साथ रहा है। साथ ही विभागीय कार्यों में सहयोग के लिए मैं केन्द्र के सभी कर्मचारियों विकास जी, शबनम जी, अरुण आदि का धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ। विभागीय कार्यों में इनकी आवश्यकता सर्वदा रही है।

अग्रजों, सहपाठियों तथा मित्रगणों में डॉ. माईराम (सहायक आचार्य, कामराज विश्वविद्यालय, मदुरै), डॉ. कौशल पँवार (सहायक आचार्य, मोती लाल नेहरू विश्वविद्यालय दिल्ली), डॉ. विकास, डॉ. प्रदीप, डॉ. राजकिशोर, डॉ. ममता स्नेही, डॉ. अनिल, डॉ. रंजन लता (सहायक आचार्य, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर), डॉ. बिन्द कुमार (सहायक आचार्य, उत्तर प्रदेश), श्री नारायण दत्त, कुमारी अन्नु (सहायक आचार्या, पश्चिम बंगाल), डॉ. प्रचेतस, श्री पार्थ सार्थी शील (सहायक आचार्य, त्रिपुरा केन्द्रिय विश्वविद्यालय, त्रिपुरा), डॉ. निर्मला (सहायक आचार्या, हरियाणा), डॉ. सपना, ईवाना, सरिता, दिव्या, अनीता, श्री सतरुद्र, श्री सतीस, श्री अनील, श्री भरतमणि, श्री सोमबीर, श्री रामावतार आदि ने समय - समय पर शोध स्तर पर मेरा उत्साह वर्धन और यथा सम्भव अपेक्षित सहयोग किया। इस के लिए मैं सभी का हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ। साथ ही मैं उन सभी का धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ जिन्होंने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से इस शोधकार्य की पूर्णता के लिए मेरा सहयोग किया है।

शोधकार्य में पुस्तकालयों का सहयोग अतुलनीय रहा है। दिल्ली विश्वविद्यालय, श्री लाल बहादुर शास्त्री संस्कृत विद्यापीठ, जे. एन. यू. तथा हमारे केन्द्र के पुस्तकालयों

से मुझे पुस्तकें, शोधपत्र एवं पत्रिकाओं आदि की सुलभता से शोध को नई दिशा और गति प्राप्त हुई है। पुस्तकालयों में मेरा सहयोग करने के लिए मैं पुस्तकालयों के कर्मचारियों का धन्यवाद ज्ञापित करता है।

इसी क्रम में मैं अपनी पत्नी का भी धन्यवाद करता हूँ जिन्होंने व्यस्त रहते हुए टाईप और संगणक सम्बन्धी समस्या को समस्या बनने नहीं दिया एवं हर पल प्रत्यक्ष - अप्रत्यक्ष रूप से मेरा सहयोग किया। मेरे उत्तरदायित्व को कभी भार बनने नहीं दिया। मेरी पुत्री देशना को देखकर, उसके साथ कुछ समय बिताने पर सारी थकावट को दूर हो जाती है। मैं महानदी के उन सभी छोटे बच्चों के प्रति स्नेह प्रकट करता हूँ जिनको प्रतिदिन सन्ध्याकाल को बाल भाव के साथ खेलता देख मन में चिर स्थायी आनन्द और शान्ति की अनुभूति रही। शान्त चित्त मन में नूतन विचारों का सृजन होता रहा।

अन्त में शोधकार्य हेतु सभी सहयोगियों का जिनका नाम उल्लेख नहीं हो पाया उनका पुनः धन्यवाद करता हूँ एवं आभार प्रकट करता हूँ।

गजेन्द्र कुमार

विषयानुक्रमणिका

विषयानुक्रमणिका

विषय	क्रम संख्या
आभार कथन	i-iv
विषयानुक्रमणिका	v-xvi
संकेत - सारिणी	xvii-xviii
प्रस्तावना	1-17
प्रथम अध्याय	18-44

लोकाचार की अवधारणा

१.१ लोकाचार का अर्थ एवं परिभाषा

१.२ ऋग्वेद में लोकाचार

१.३ यजुर्वेद में लोकाचार

१.४ सामवेद में लोकाचार

१.५ अर्थववेद में लोकाचार

१.६ ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थों में लोकाचार

१.७ उपनिषदों में लोकाचार

१.८ लोकाचार की वर्तमान समय में प्रासंगिकता

द्वितीय अध्याय 45-85

ब्रह्मचार्य आश्रम में लोकाचार

२.१ ब्रह्मचर्य आश्रम का प्रमुख आधार

२.१.१ वर्ण व्यवस्था

२.१.२ आचार्य द्वारा वर्ण निर्धारण

२.१.३ ब्रह्मचार्याश्रम का ब्रह्मचारी

२.१.४ उपनयन संस्कार

२.१.५ आयु विमर्श

२.१.६ ऋतु, काल एवं मन्त्र विधान

२.२ ब्रह्मचारी का स्वरूप

२.२.१ ब्रह्मचारी परिधान आचार

२.२.२ब्रह्मचारी द्वारा दण्ड रखना

२.२.३ कमण्डल

२.२.४ केश

२.२.५ मेखला

२.२.६ यज्ञयोपवीत (जनेऊ)

२.२.७ चरित्र एवं व्यक्तित्व विकास

२.३ ब्रह्मचर्य आश्रम का शैक्षणिक व्यवस्थागत आचार

२.३.१ शिक्षण प्रारम्भ

२.३.२ शिक्षण का विषय एवं पद्धतियाँ

२.३.३ ब्रह्मचारी का स्वाध्याय

२.३.३.१ अनाध्याय काल

२.३.४ गुरु के आचार व प्रकार

२.३.४.१ गुरु का महत्त्व

२.३.४.२ गुरु का चयन

२.३.४.३ गुरु के प्रकार (गुरु, उपाध्याय, आचार्य)

२.३.५ शिष्य के आचार

२.३.६ गुरु - शिष्य आचार

२.३.७ पठन - पाठन आचार

२.३.८ ब्रह्मचारी के कर्तव्य

२.४ ब्रह्मचर्य के आचार तत्त्व

२.४.१ चरण स्पर्शाचार

२.४.२ सूर्योदय से पहले उठना

२.४.३ भिक्षाटन सम्बन्धी आचार

२.४.४ भोजन आचार

२.४.५ शौच आचार

२.४.६ संयम धारण

२.४.७ सत्य वक्ता

२.५ निषेध आचार के प्रमुख नियम

२.५.१ अपशब्द वर्जन

२.५.२ जूआ

२.५.३ मादक पदार्थों का निषेधाचार

२.५.४ वर्जित परिधान

२.५.५ सौन्दर्य प्रसाधनों का प्रयोग

२.५.६ निषध वाहन

२.५.७ निषध मार्ग

२.५.८ निषध दर्शन

२.५.९ स्नान

२.५.१० भक्षय तथा अभक्षय

२.५.११ अन्य निषध कर्म

२.५.१२ ब्रह्मचारी द्वारा प्रायश्चित

२.६ ब्रह्मचारी का सामाजिक आचार और उसकी वर्तमान सन्दर्भ में प्रासंगिकता

तृतीय अध्याय **86-151**

गृहस्थ आश्रम में लोकाचार

३.१ गृहस्थ आश्रम में वर्णित वैवाहिक लोकाचार

३.१.१ वैवाहिक लोकाचार

३.१.२ वैवाहिक उद्देश्य

३.१.२.१ सन्तान प्राप्ति

३.१.२.२ धर्म सम्पादन

३.१.३ कुल सम्बन्धित लोकाचार

३.१.४ योग्य वधू हेतु लोकाचार

३.१.५ योग्य वर हेतु लोकाचार

३.१.६ वैवाहिक आयु

३.१.७ सपिण्ड, सगोत्र, सप्रवर सम्बन्धी आचार

३.१.७.१ सपिण्ड

३.१.७.२ सगोत्र

३.१.७.३ सप्रवर

३.२ अष्टविध वैवाहिक लोकाचार

३.२.१ ब्राह्म विवाह

३.२.२ प्रजापति विवाह (प्राजापत्य)

३.२.३ आर्ष विवाह

३.२.४ दैव विवाह

३.२.५ गान्धर्व विवाह

३.२.६ आसुर विवाह

३.२.७ राक्षस विवाह

३.२.८ पैशाच विवाह

३.३ वैवाहिक लोकाचार के अन्य बिन्दु

३.३.१ स्वयंवर

३.३.२ अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाह

३.३.३ एकपत्नी विवाह

३.३.४ बहुपत्नी विवाह

३.३.५ विधवा विवाह तथा पुनर्विवाह

३.३.६ नियोग प्रथा

३.४ पंचमहायज्ञीय लोकाचार

३.४.१ ब्रह्मयज्ञ

३.४.२ पितृयज्ञ

३.४.३ देवयज्ञ

३.४.४ भूतयज्ञ

३.४.५ मनुष्ययज्ञ

३.५ ऋण त्रय से मुक्ति

३.६ पारिवारिक आचार की रूपरेखा

३.६.१ पिता के आचार

३.६.२ माता के आचार

३.६.३ पति के आचार

३.६.४ पत्नी के आचार

३.६.५ पुत्र के आचार

३.७ प्रकृति के प्रति लोकाचार

३.८ अन्याश्रमों के प्रति लोकाचार

३.९ दान सम्बन्धी आचार

३.१० गृहस्थ आश्रम की वर्तमान प्रासंगिकता

चतुर्थ अध्याय 152-170

वानप्रस्थ आश्रम में लोकाचार

४.१ वानप्रस्थ आश्रम में लोकाचार

४.२ वानप्रस्थ आश्रम का समय

४.३ वानप्रस्थ आश्रम के अधिकारी

४.४ वानप्रस्थ आश्रम के प्रमुख आचार

४.४.१ सामाजिक लोकाचार का पालन

४.४.२ शौचाचार का पालन

४.४.३ स्नान करने का विधान

४.४.४ केश - विधान

४.४.५ वस्त्र धारण के विधान

४.४.६ भोजन का प्रयोग

४.४.७ पंचमहायज्ञ

४.५ वानप्रस्थ आश्रम के वर्जित कार्य

४.५.१ खेत में गमन न करना

४.५.२ गाँव में प्रवेश न करना

४.५.३ अन्य निषध कार्य

४.६ वानप्रस्थ के भेद

४.६.१ सपत्नीक

४.६.२ अपत्नीक

४.७ सपत्नीक के भेद

४.७.१ औदुम्बर

४.७.२ वैरिञ्च

४.७.३ फेनप

४.७.४ वालखिल्य

४.८ अपत्नीक के भेद

४.९ बौधायन के अनुसार वानप्रस्थ के भेद एवं स्वरूप

४.९.१ पचमानक

४.९.१.१ सर्वारण्यक

४.९.१.१.१ इन्द्रावसिवत

४.९.१.१.२ रेतोसिक्त

४.९.१.२ वैतुषिका

४.९.१.३ कन्दमूलभक्षी

४.९.१.४ फलाहारी

४.९.१.५ शाकाहारी

४.९.२ अपचमानक

४.९.२.१ उन्मज्जक

४.९.२.२ प्रवृताशिन

४.९.२.३ मुखेनादायिन

४.९.२.४ तोयाहार

४.९.२.५ वायुभक्षक

४.१० वानप्रस्थ आश्रम की वर्तमान प्रासंगिकता

पंचम अध्याय 171-198

संन्यास आश्रम में लोकाचार

५.१ संन्यास आश्रम का स्वरूप

५.२ संन्यास आश्रम के अधिकारी (वर्ण)

५.३ संन्यास ग्रहण की विधि एवं लोकाचार

५.४ संन्यास आश्रम के प्रमुख नियम एवं लोकाचार

५.४.१ केश विधान

५.४.२ भोजन ग्रहण का विधान

५.४.३ यज्ञ का विधान

५.४.४ स्नान का विधान

५.४.५ कमण्डल एवं भिक्षापात्र धारण करना

५.४.६ आचमन एवं प्राणायाम का विधान

५.४.७ तर्पण की विधि

५.४.८ सूर्य उपासना

५.४.९ सावित्री उपासना

५.५ संन्यास आश्रम में दीक्षा विवेचन एवं लोकाचार

५.५.१ धार्मिक स्वाध्याय एवं चिन्तन

५.५.२ संध्या और उपासना का विधान

५.६ पञ्च महायज्ञों का विधान एवं लोकाचार

५.६.१ ब्रह्मयज्ञ

५.६.२ देवयज्ञ

५.६.३ पितृयज्ञ

५.६.४ भूतयज्ञ

५.६.५ अतिथियज्ञ

५.७ व्यवहारिक लोकाचार

५.७.१ संन्यासी का भिक्षाटन

५.७.२ संन्यासी का निवास स्थान

५.८ संन्यासी के भेद

५.८.१ कूटीचक्र संन्यासी

५.८.२ बहूदक संन्यासी

५.८.३ हंस संन्यासी

५.८.४ परमहंस संन्यासी

५.९ संन्यास आश्रम के लोकाचार की समीक्षा

५.१० बौधायन धर्मसूत्र में वर्णित संन्यास आश्रम

५.११ संन्यास आश्रम की वर्तमान प्रासंगिकता

५.१२ धर्मसूत्रों में वर्णित लोकाचार में साम्य तथा वैषम्य का विवेचन

उपसंहार 199-208

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची (Bibliography) 209-225

संकेत - सारिणी

• अथर्व.	अथर्ववेद
• अनु.	अनुवादक
• आ. गृ. सू.	आश्वलायन गृह्यसूत्र
• आप. ध.	आपस्तम्ब धर्मसूत्र
• ईशा. उ.	ईशावास्योपनिषद्
• ऋ. भा. भू	ऋग्वेदभाष्यभूमिका
• ऋ.	ऋग्वेद
• गौ. ध.	गौतम धर्मसूत्र
• छा. उ.	छान्दोग्योपनिषद्
• तै. उ.	तैत्तिरीयोपनिषद्
• तै. ब्रा.	तैत्तिरीय ब्राह्मण
• ध. शा. इति.	धर्मशास्त्र का इतिहास
• धर्म. आ. सं.	धर्मसूत्रीय आचार संहिता
• पा. शि.	पाणिनीयशिक्षा
• पृ.	पृष्ठ संख्या
• बृ. उ.	बृहदारण्यकोपनिषद्
• बौधा. ध.	बौधायन धर्मसूत्र
• मनु.	मनुस्मृति
• माण्डू. उ.	माण्डूक्योपनिषद्

- मु. उ. मुण्डकोपनिषद्
- यजु. यजुर्वेद
- यजु. यजुर्वेद
- याज्ञ. स्मृ. याज्ञवल्क्य स्मृति
- वसि. ध. वसिष्ठ धर्मसूत्र
- वि. ध. विष्णु धर्मसूत्र
- वि. मनु. विशुद्ध मनुस्मृति
- वि. स. विक्रमी सम्वत्
- वै. सू. वैशेषिक सूत्र
- वैखा. ध. वैखानस धर्मसूत्र
- व्या. व्याख्याकार
- श. ब्रा. शतपथ ब्राह्मण
- सं. संस्करण
- सम्पा. सम्पादक

प्रस्तावना

प्रस्तावना

भारतीय संस्कृति में वेदों का स्थान देदीप्यमान सूर्य के समान माना गया है। वेदों की ज्ञान प्रवाहमयी संस्कृति सम्पूर्ण विश्व को अपने ज्ञान से सिञ्चित करती है। वेद शब्द ज्ञानार्थक **"विद् ज्ञाने"** धातु से घञ् प्रत्यय करने पर बनता है। जिसका अर्थ होता है - ज्ञान। यह ग्रन्थ ज्ञानराशि अथवा ज्ञान का संग्रह ग्रन्थ माना गया है। इसको श्रुति, निगम, आगम, त्रयी, छन्दस्, आम्नाय, स्वाध्याय आदि नामों से पुकारा गया है।[1]

वेद को परिभाषित करते हुए *तैत्तिरीय संहिता* की भाष्य भूमिका में कहा गया है - जो ग्रन्थ इष्ट प्राप्ति और अनिष्ट के निवारण का अलौकिक उपाय बताता है, उसे वेद कहते हैं। अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि जो उन्नति और प्रगति का मार्ग बताता है और दुष्कर्मों से होने वाले कुपरिणामों से बचने का उपाय स्पष्ट करता है, वह ग्रन्थ वेद कहलाता है।[2] मानव जीवन में वेदों का स्वाध्याय अथवा अध्यापन करना चाहिए। *शतपथ ब्राह्मण* में वेदों के लिए स्वाध्याय शब्द का प्रयोग किया गया है।[3] इनके स्वाध्याय से मानव जीवन में संस्कारों का पदार्पण होता है। सभी धर्म का मूल ग्रन्थ वेद ही माना जाता है।[4] ज्ञान की दृष्टि से वेद का विभाजन संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् के रूप में किया गया है। इनमें वैदिक मन्त्रों का संकलन संहिता ग्रन्थों में किया गया है। वेद के मन्त्रों की व्याख्या और विनियोग प्रस्तुत करने वाले ग्रन्थ को ब्राह्मण ग्रन्थ का नाम दिया गया है।

---

[1] *वैदिक साहित्य एवं संस्कृति*, पृ.२

[2] इष्टप्राप्त्यनिष्ट - परिहारयोलौकिकम् उपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः। *तैत्तिरीय संहिता भाष्य* की भूमिका

[3] स्वाध्यायोऽध्येतव्यः।, *श. ब्रा.*, ११/५/६/३

[4] वेदोऽखिलो धर्ममूलम्।, *मनु* .२/६

इसी प्रकार से आरण्य में रहकर अध्ययन, अध्यापन, मनन तथा चिन्तन का आध्यात्मिक विवेचन करने वाले ग्रन्थ आरण्यक कहलाते हैं। जबकि उपनिषद् ग्रन्थों में गुरु के समीप बैठकर स्वाध्याय करने का विस्तार से व्याख्यात्मक वर्णन किया गया है। इसी ज्ञान परम्परा को अत्यधिक आत्मसात् करने हेतु छः वेदांगों का परिगणन किया गया है। जिसमें क्रमशः शिक्षा, व्याकरण, छन्द, निरुक्त, ज्योतिष, कल्प आदि की गणना की जाती है।[5] *पाणिनीयशिक्षा* में वेदांगों का वर्णन वेद रूपी पुरुष के छः अंगों के रूप में विवेचन किया गया है।[6] इन षड् वेदांगों में कल्प साहित्य का महत्त्वपूर्ण स्थान माना गया है।

कल्प सूत्रों का परिचय :-

वैदिक साहित्य में कल्प का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाता है। कल्प साहित्य में नूतन भाव, विचार, भाषा एवं लेखन तथा रचना शैली का वर्णन प्रतिपादित है। संस्कृत साहित्यकार इससे लौकिक संस्कृत का प्रारम्भ मानते हैं। कल्प साहित्य में यज्ञ के सम्पादन का सम्पूर्ण विवेचन किया गया है। कल्प के अर्थ को स्पष्ट करते हुए आचार्य सायण ने कहा है - जिन ग्रन्थों में यज्ञ आदि विधियों का समर्थन या प्रतिपादन किया जाता है, उन्हें कल्प कहते हैं। कल्प ग्रन्थों में वैदिक कर्मों (यज्ञ) का सांगोंपांग विवेचन किया गया है। कल्प साहित्य के ग्रन्थ सूत्र रूप में लिखित हैं। अतः इन कल्प ग्रन्थों को सूत्र ग्रन्थ कहा जाता है।[7] कल्प के अर्थ को स्पष्ट करते आचार्य

---

[5] शिक्षा व्याकरणं छन्दो निरुक्तं ज्योतिषं तथा।
कल्पश्चेति षडङ्गानि वेदस्याहुर्मनीषिणः॥ *वैदिक साहित्य एवं संस्कृति*, पृ.१९०

[6] छन्दः पादौ तु वेदस्य, हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते। ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रौत्रंमुच्यते॥
शिक्षां घ्राणं तु वेदस्य, मुखं व्याकरणं स्मृतम्। तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते॥,
पा. शि., ४१ - ४२

[7] *वैदिक सहित्य एवं संस्कृति,* कपिल देव द्विवेदी, पृ. २१३

सायण ने कहा है - **" कल्पयन्ते समर्थ्यते यागप्रयोगोऽत्र इति व्युत्पत्तेः।[8] "** अर्थात् यज्ञ के प्रयोग का समर्थन करने वाला शास्त्र कल्प कहलाता है।

इसी प्रकार से आचार्य विष्णु मित्र ने ऋक् प्रातिशख्य में कहा है - **"कल्पो वेदविहीतानां कर्माणाम् आनुपूर्व्येण कल्पनाशात्रम्।[9]"**

अर्थात् वेद - विदित कर्मों का क्रमपूर्वक व्यवस्थित रूप में वर्णन करने वाला शास्त्र कल्प कहलाता है। आचार्य कुमारिल भट्ट ने भी इनके महत्त्व को प्रतिपादित किया है।[10] सूत्र साहित्य में ज्ञान विधाओं का साक्षात्कार कदम - कदम पर परिलक्षित होता है। इनके स्वाध्याय से सभी विषयों को स्पर्श किया जा सकता है। ब्राह्मण ग्रन्थों के संरक्षण में कल्प साहित्य का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

कल्पसूत्रों का विभाजन :-

वैदिक साहित्य के कल्पसूत्रों का ज्ञान भण्डार बहुत विशाल है। इसमें विविध विषयों का वर्णन किया है। विषयवस्तु के आधार पर कल्पसूत्रों का विभाजन चार प्रकार से किया गया है। जिनका विवेचन इस प्रकार है।

१.श्रौतसूत्र :-

श्रौत से अभिप्राय है - श्रुति से सम्बन्धित होना। इनका मुख्य विषय वेद प्रतिपादित विभिन्न महत्त्वपूर्ण यज्ञों (यथा दर्शपूर्ण मास यज्ञ, सोम यज्ञ आदि) का विधिविधान पूर्वक सूत्र रूप में क्रमबद्ध संकलित करना तथा विस्तार से वर्णन करना ।

---

[8] सायण, *ऋ. भा. भू.,* पृ.५४

[9]. *वैदिक साहित्य एवं संस्कृति*, पृ.२१४

[10]. *निरुक्त*, २/१

२.गृह्यसूत्र :-

गृह्यसूत्रों में सोलह संस्कारों, पंचमहायज्ञों, गृह प्रवेश, कृषि क्रमों, ऋण त्रय, सात पाकयज्ञों आदि का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। अर्थात् मानव के जन्म से लेकर मृत्यु तक के समस्त कर्तव्यों तथा अनुष्ठानों की चर्चा यहाँ की गयी है। सामाजिक दृष्टि से गृह्यसूत्र महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

३.धर्मसूत्र :-

इनमें आचार संहिता, व्यवहार तथा मानवीय मूल्यों, राजनैतिक तथा सामाजिक कर्तव्यों, चारों वर्णों तथा चारों आश्रमों के आचार, विवाह, उत्तराधिकार, प्रायश्चित्, सामाजिक नियमों एवं राजधर्म, प्रजाधर्म आदि विषयों का विवेचन प्राप्त होता है। वस्तुतः यहाँ पर लोकाचार के विविध प्रसंगों का वर्णन मिलता है।

४. शुल्वसूत्र :-

शुल्वसूत्रों में गणितीय विधियों द्वारा प्रमेय, यज्ञवेदी के निर्माण की विधि तथा मापन आदि नियमों की जानकारी प्रस्तुत की गई है। शुल्वसूत्रों का श्रौतसूत्रों से घनिष्टतम सम्बन्ध है। श्रौतसूत्रों में वर्णित यज्ञादि विधानों की प्रक्रियाओं का पूर्ण ज्ञान एवं विनियोग शुल्वसूत्रों के ज्ञान बिना सम्भव नहीं हो सकता है। कल्पसूत्रों के प्रमुख विषयों का वर्णन विस्तारपूर्वक किया गया है। इसमें वर्णित विषयों का सारगर्भित वर्णन इस प्रकार है।

१. कर्मकाण्ड का विवेचन करना।

२. धर्म कार्यों का विवेचन करना।

३. सामाजिक विषयों का सम्पादन करना।

४. शास्त्रीय विषयों का वर्णन करना।

५. राजनैतिक परक विषयों (गणितशास्त्र, ज्यामिति रचना आदि) का वर्णन करना।

६. यज्ञ की विधियों का वर्णन करना।

६. संस्कारों का विवेचन करना।

८. राजनैतिक विषयों का प्रतिपादन करना।

९. गणितीय शास्त्र के नियमों का विस्तार से वर्णन।

१०. नैतिक आचारमीमांसा का विस्तार से प्रतिपादन करना।

इस प्रकार से कल्प साहित्य का ज्ञानभण्डार मानव के जीवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

धर्मसूत्रों की रूपरेखा :-

धर्मसूत्रों का प्रतिपाद्य विषय धर्म है, धर्म शब्द **धृञ् धारणे** धातु से औणादिक मन् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। जिसका तात्पर्य है धारण करना, आलम्बन देना, पालन करना। वैदिक साहित्य के अवलोकन से ज्ञात होता है। प्रायः यह **'धर्मन्'** शब्द है तथा इसका प्रयोग नपुंसक लिंग में हुआ है। अधिकतर वैदिक साहित्य में धर्म का अर्थ - **धार्मिक विधि, धार्मिक क्रिया, आचरण नियम, निश्चित नियम** जैसे अर्थों में हुआ है यथा - **'पितुंनस्तोषं महो धर्माणंतविषीम्' 'सनताधर्मणि', 'प्रथमाधर्मा'** आदि। वामन शिवराम आप्टे ने धर्म का अर्थ निम्नलिखित अर्थों में किया गया है- कर्तव्य,

जाति, सम्प्रदाय आदि के प्रचलित आचार का पालन, कानून, दस्तूर, प्रथा, अनुविधि, धार्मिक या नैतिक गुण भलाई, अच्छे काम।[11]

धर्म के विषय में कुछ परिभाषा बहुत प्रचलित है यथा - **'चोदनालक्षणोऽर्थोधर्मः'** अर्थात् वेद में बताये गये प्रेरक नियम और लक्षण धर्म है, उन नियमों का आचरण ही धर्म का आचरण है।[12] गौतम धर्मसूत्रकार ने वेदों को धर्म का मूल (प्रमाण) माना है साथ ही उन वेदों के ज्ञाता, मनु आदि स्मृतिकारों तथा उनके धर्मानुसार आचरण को भी प्रमाण है।[13] आपस्तम्ब ने भी इसी बात को बल देते हुए कहा है कि - **"धर्मज्ञसमयः प्रमाणं वेदाश्च।"** अर्थात् जो वेदों को जानते हैं, उनका मत ही धर्म - प्रमाण है।[14]

मनु के मत में भी श्रुति और स्मृति दोनों प्रकार के शास्त्रों से धर्म उत्पन्न होता है। धर्मशास्त्र को स्मृति तथा श्रुति को वेद समझना चाहिये।[15] धर्म के विषय में याज्ञवल्क्य स्मृतिकार का कहना है कि -

"पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।

वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥" [16]

---

[11] आप्टे, वामन शिवराम, '*संस्कृत - हिन्दी शब्द कोश*', पृ. ४९८

[12] *पूर्वमीमांसा*, जैमनीय, १/१/२

[13] वेदो धर्ममूलम्। तद्विदाम् च स्मृतिशीले। *गौ. ध.* १/१/१-२

[14] धर्मज्ञसमयः प्रमाणं वेदाश्च। *आप. ध.* १/१/१/२

[15] श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः। ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ॥ *मनु.* २/१०

[16] *याज्ञ. स्मृ.*, १/३

अर्थात् पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, छः वेदाङ्ग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, एवं ज्योतिष) चार वेद (ऋग्वेद, यजुर्वेद्, सामवेद तथा अथर्ववेद) ये चौदह विद्या और धर्म के स्थान या कारण है। मनुस्मृतिकार ने धर्म के दश लक्षण बताये हैं। जो इस प्रकार हैं -

"धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।

धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥"[17]

पुरुषार्थ चतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) में भी धर्म को सबसे पहले रखा है। धर्म से ही अभ्युदय तथा निःश्रेयस की सिद्धि बतलायी गयी है।[18]

इस प्रकार धर्मानुसार जीवन धारण करते हुए सदाचार का पालन करना चाहिए। यह मानव जीवन का अनिवार्य अंग है।

प्रमुख धर्मसूत्रों का वर्णित विषय :-

धर्मसूत्रों में वर्णित विषयों का वर्णन यहाँ प्रस्तुत है।

१. आचारशास्त्र के प्राचीनतम ग्रन्थों में सांस्कृतिक चेतना का वर्णन ।

२. स्मृतिग्रन्थों के आधारभूत विषयों का प्रतिपादन होना।

३. शास्त्रीय विषयों की व्याख्या करना ।

४. आर्थिक विषयों का वर्णन करना ।

५. राजनैतिक कार्यों का वर्णन करना।

---

[17] मनु.६/९२

[18] यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धि सः धर्मः। *वै. सू.* १/१/२

६. सांस्कृतिक विषयों की व्याख्या करना।

७. सामाजिक विषयों का सम्पादन करना।

८. गृहस्थ जीवन के विविध विषयों का विस्तारपूर्वक वर्णन करना।

९. मानव जीवन के नैतिक मूल्यों का वर्णन ।

१०. धार्मिक विषयों का सम्पादन में विश्व शान्ति, सद्भाव, समुन्नति तथा सदाचार का वर्णन करना।

इस प्रकार से धर्मसूत्रों में विविध विषयों का वर्णन किया गया है।

शोध-प्रबन्ध में चयनित प्रमुख धर्मसूत्रों का परिचयात्मक स्वरूप : -

शोध-प्रबन्ध के चयनित शीर्षक में **प्रमुख धर्मसूत्रों में वर्णित लोकाचार की वर्तमान सन्दर्भ में प्रासंगिकता** का वर्णन करना है। इनमें प्रमुख रूप से गौतम धर्मसूत्र, आपस्तम्ब धर्मसूत्र, बौधायन धर्मसूत्र, वसिष्ठ धर्मसूत्र एवं विष्णु धर्मसूत्रों तथा मनुस्मृति को केन्द्र में रखा गया है। शोध क्षेत्र के इन ग्रन्थों का सामान्य परिचय यहाँ प्रस्तुत है। धर्म सम्बन्धि विषयों में मनुस्मृति को प्रसिद्ध धार्मिक उपदेशात्मक ग्रन्थ माना गया है। अतः इसमें वर्णित लोकाचार के महत्त्व को भी शोध-प्रबन्ध में प्रबन्धित किया गया है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध को अध्यायों में करते हुए प्रमुख धर्मसूत्र ग्रन्थों में वर्णित लोकाचार का विवेचन किया गया है। इसमें चयनित धर्मसूत्रों को आधार बनाकर शोधविषय को आत्महृदयस्थ करते हुए लेखन कार्य किया गया है। सर्वप्रथम चयनित धर्मसूत्रों के सामान्य परिचयात्मक स्वरूप को स्पष्ट करना अनिवार्य है। जिसका सारगर्भित विवेचन इस प्रकार है।

(क). गौतम धर्मसूत्र का परिचय :-

यह धर्मसूत्र सामवेद की राणायनीय शाखा से सम्बन्धित है। इसके आचार्य महर्षि गौतम हैं। धर्मसूत्रों में गौतम धर्मसूत्र सबसे प्राचीनतम है। इसका २६ वाँ अध्याय सामविधान ब्राह्मण के समान है। इसमें २८ अध्याय एवं एक हजार सूत्र हैं। सूत्रात्मक शैली का यह धर्मसूत्र विश्वप्रसिद्ध ग्रन्थ माना जाता है। उद्धरण के रूप में इसमें कोई भी पद्य नहीं मिलता है। इसमें बुद्ध या बौद्ध मत का उल्लेख न होने के कारण पी.वी. काणे महोदय ने गौतम धर्मसूत्र का समय ६०० - ४०० ई.पू. से पहले स्वीकार किया है।[19] जबकि मैक्समूलर ने इसका समय ५०० ई.पू. के लगभग निर्धारित किया है।[20] इस धर्मसूत्र की विषय वस्तु इस प्रकार है।[21]

क्रम	अध्याय	प्रतिपादित विषय वस्तु
१.	१-५	धर्म, चार आश्रम, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, भिक्षु, वैखानस, विवाह के प्रकार,पंच महाव्रत।
२.	६-१०	माता - पिता - गुरु का सत्कार विवेचन, ४० संस्कार, चार वर्ण, राजधर्म।
३.	११-१५	अपराध, दण्ड विधान, साक्षी के नियम, श्राद्ध के प्रकार, उपाकर्म।
४.	१६-२०	भक्ष्याभक्ष्य - विचार, स्त्रीधर्म, नियोग, विविध पातक, प्रायश्चित कर्म।
५.	२१-२८	विविध पातक, प्रायश्चित, व्रतों आदि का वर्णन, दाय भाग विवेचन।

[19] काणे, पी.वी., *ध. शा. इति.* पृ. १३

[20] मैक्समूलर, *हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर*, पृ. २०६

[21] *वैदिक साहित्य एवं संस्कृति,* पृ.१३६

इस प्रकार से गौतम धर्मसूत्र में विविध विषयों का वर्णन किया गया है। इस धर्मसूत्र की मिताक्षरा व्याख्या और मस्करी आचार्य के भाष्य उपलब्ध होते हैं। इसके संस्करणों में स्टेअन्त्सलर द्वारा सम्पादित लन्दन से तथा जीवानन्द विद्यासागर की कलकत्ता से सम्पादित है। मस्करी भाष्य सहित मैसूर से प्रकाशित है। वर्तमान में विद्यानिधि प्रकाशन - दिल्ली, चौखम्बा संस्करण - वाराणसी आदि के संस्करण भी उपलब्ध हैं।

(ख). बौधायन धर्मसूत्र का परिचय :-

बौधायन धर्मसूत्र का सम्बन्ध कृष्णयजुर्वेद से है। यह धर्मसूत्र चार प्रश्नों में विभक्त है। बौधायन के प्रथम प्रश्न में ११ अध्याय और २१ खण्ड हैं। द्वितीय प्रश्न में १० अध्याय और १८ खण्ड है। तृतीय प्रश्न में १० अध्याय और १० खण्ड है। चतुर्थ प्रश्न ८ खण्डों में है। इसका अन्तिम प्रश्न परिशिष्ट माना जाता है और उसे बाद की रचना मानते हैं। पी.वी. काणे ने बौधायन का काल ५०० से २०० ई.पू. के बीच का माना है।[22] विद्वानों द्वारा बौधायन धर्मसूत्र को दक्षिणा भारत की शाखा माना गया है। इसका अध्याय विवेचन के आधार पर वर्णन इस प्रकार है।[23]

क्रम	अध्याय (प्रश्न)	विषय वस्तु का वर्णन
१.	प्रश्न - १	ब्रह्मचर्य के नियम, दायभाग, भक्ष्याभक्ष्य, चातुरवर्ण विचार, राजा के कर्तव्य, महापाप, दण्ड विधान, विवाह के प्रकार।
२.	प्रश्न - २	महापातकों का प्रायश्चित, व्रत, गृहस्थ के नियम, पंच महायज्ञ, श्राद्ध, संन्यास आश्रम।
३.	प्रश्न -३	वानप्रस्थ, संन्यासी के धर्म।
४.	प्रश्न -४	प्रायश्चित, काम्य कर्म इत्यादि।

[22] काणे, पी.वी., *ध. शा. इति.* पृ. १६

[23] *वैदिक साहित्य एवं संस्कृति*, पृ.१३६

इस प्रकार से बौधायन धर्मसूत्र में विविध विषयों का वर्णन किया गया है। इसकी गोविन्द स्वामी की विवरण व्याख्या सर्वाधिक प्रसिद्ध मानी जाती है।

(ग). आपस्तम्ब धर्मसूत्र परिचय :-

आपस्तम्ब धर्मसूत्र का सम्बन्ध कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से है। इसमें दो प्रश्न है और प्रत्येक में ११ पटल हैं। दोनों प्रश्नों में क्रमशः ३२ और २९ कण्डिकाएँ हैं। एक ही विषय बिना किसी व्यवधान के कई कण्डिकाओं में विवेचित है। पी.वी. काणे महोदय ने इसका रचनाकाल ६०० - ३०० ई. पू. निर्धारित किया है। इस धर्मसूत्र में कण्व, कौत्स, हारीत, श्वेतकेतु आदि प्राचीन आचार्यों के मतों का वर्णन किया गया है।

इस धर्मसूत्र पर सर्वाधिक प्रसिद्ध व्याख्या हरदत्त की उज्जवला व्याख्या उपलब्ध होती है। यह अनेक संस्करणों में प्राप्य है। जिसमें ब्यूहलर सम्पादित, बम्बई संस्करण, ए. आर. शास्त्री द्वारा सम्पादित बनारस संस्करण, मगनलाल सम्पादित पूना संस्करण और महादेव शास्त्री का सम्पादित मैसूर संस्करण सामान्यतया उपलब्ध हो जाते हैं।

(घ). वसिष्ठ धर्मसूत्र का परिचय :-

आचार्य वसिष्ठ द्वारा कृत यह धर्मसूत्र ऋग्वेद से सम्बन्धित है। वसिष्ठ धर्मसूत्र के अनेक संस्करण हैं। निसन्देह यह धर्मसूत्र गौतम, बौधायन, आपस्तम्ब धर्मसूत्रों के बाद रचा गया है। जीवानन्द के संस्करण के अनुसार इसमें २० अध्याय माने गए हैं। काणे महोदय के अनुसार इस धर्मसूत्र का रचनाकाल ३०० - १०० ई.पू. के बीच का माना है।[24] इसमें धर्म की परिभाषा, विवाह के प्रकार, वर्णाश्रम व्यवस्था, आचार के नियम, गृहस्थ के नियम, दत्तक पुत्र के नियम, दण्ड व्यवस्था, सम्पति का विभाजन,

---

[24] काणे,पी.वी., *ध. शा. इति.*, पृ. २३

राजा के कर्तव्य, प्राणायाम आदि आचार के सन्दर्भ में विस्तार से वर्णन किया गया है।

(ङ). विष्णु धर्मसूत्र का परिचय:-

इस धर्मसूत्र में १०० अध्याय हैं। इसका सम्बन्ध यजुर्वेद की कठ शाखा से बतलाया गया है। इसका पहला और अन्तिम अध्याय पद्य में है। यह गद्य - पद्य मिश्रित रचना है। विष्णु धर्मसूत्र का मुख्य प्रतिपाद्य विषय कूर्म द्वारा पृथिवी को उठाना, वर्णाश्रम धर्म, विष्णु द्वारा देवताओं को कर्तव्य का बोध, वर्णधर्म, राजधर्म का प्रतिपादन, पुत्रों के प्रकार, वर्ण संकर विवाहों से उत्पन्न पुत्र तथा मिश्रित जातियाँ, दायविभाग, व्यवहार, पाप के कारण, गृहस्थ - धर्म, स्नातक धर्म, भिक्षा और श्राद्ध है। इस प्रकार विष्णु धर्मसूत्रकार ने मानव जीवन के विभिन्न आचार व्यवहार की व्याख्या करते हुए अन्त में अध्याय के फल का भी वर्णन किया है।

इनके अतिरिक्त हिरण्यकेशि, हारित, शङ्ख लिखित आदि धर्मसूत्र भी प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार से धार्मिक ग्रन्थों के सन्दर्भ में मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति आदि स्मृति ग्रन्थों का परिगणन भी किया जाता है। स्मृति ग्रन्थों में मनुस्मृति एक महत्त्वपूर्ण तथा अग्रगण्य ग्रन्थ है। मनुस्मृति का सामान्य परिचय इस प्रकार है।

(च). मनुस्मृति का परिचय:-

मनुस्मृति संस्कृत साहित्य का सुप्रसिद्ध ग्रन्थ माना जाता है। इसको मनुसंहिता के नाम से भी जाना जाता है। इसमें महर्षि मनु द्वारा ऋषियों के दिए गए उपदेशों का वर्णन है। धर्मशास्त्र के इतिहास में यह ग्रन्थ महनीय योगदान प्रदान करता है।

मनुस्मृति में वर्णित प्रमुख विषय :-

१. धार्मिक उपदेशों का वर्णन।

२. सामाजिक उपदेशों का वर्णन।

३. धर्म एवं अध्यात्मिक मूल्यों का वर्णन।

४. नैतिक मूल्यों का वर्णन।

५. मानवीय व्यवहार एवं लोकाचार के नियमों का वर्णन।

इसी प्रकार से मनुस्मृति में जगत् की उत्पत्ति, महायज्ञ, श्राद्धकल्प, वानप्रस्थ, मोक्ष, संन्यास, गृहस्थाश्रम, विवाह, भक्ष्याभक्ष्य, शौच, अशुद्धि, स्त्रीधर्म, संस्कारविधि, व्रतचर्या, उपचार, प्रायश्चित्त कर्म आदि का वर्णन किया गया है। इसमें राजधर्म को विशिष्ट रूप से स्पष्ट किया गया है। इस प्रकार मनुस्मृति ग्रन्थ में विविधात्मक विषयों का प्रतिपादन किया गया है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में मनुस्मृति में वर्णित लोकाचार के नियमों का विस्तार से वर्णन किया है।

चयनित शोध विषय एवं क्षेत्र :-

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का शीर्षक **" प्रमुख धर्मसूत्रों में वर्णित लोकाचार की वर्तमान सन्दर्भ में प्रासंगिकता " (गौतम, बौधायन, आपस्तम्ब, वसिष्ठ, विष्णु धर्मसूत्रों एवं मनुस्मृति के विशेष सन्दर्भ में)** है। इसमें संस्कृत साहित्य के प्रमुख भाग धर्मसूत्रों को केन्द्रस्थ करके लोकाचार के विविध पक्षों को प्रतिपादित किया गया है। इसमें लोकाचार की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए जीवन के प्रमुख आश्रमों ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थ आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम एवं संन्यास आश्रम में वर्णित लोकाचार का स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है।

मानव जीवन में लोकाचार का होना अनिवार्य है। इसके द्वारा मनुष्य अपने व्यवहार से समाज में प्रतिष्ठा को प्राप्त करता है। सदैव उचित कार्यों का करते हुए

जीवन में आगे बढ़ना चाहिए। अनुचित कार्य करने से मनुष्य समाज में पाप और अपमान का भागीदार बनता है।

इसलिए मनुष्य को सत्य, श्रद्धा, प्रेम, अध्यात्म, परोपकारिता, दानशीलता और बन्धुत्त्व की भावना को अपनाते हुए जीवन यापन करना चाहिए और समाज में लोकाचार के महत्त्व को प्रसारित करना चाहिए। आधुनिक समाज में धर्मसूत्र कालीन लोकाचार महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

प्रस्तावित अध्याय विभाजन :-

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध का चयनित विषय **- "प्रमुख धर्मसूत्रों में वर्णित लोकाचार की वर्तमान सन्दर्भ में प्रासंगिकता " (गौतम, बौधायन, आपस्तम्ब, वसिष्ठ, विष्णु धर्मसूत्रों एवं मनुस्मृति के विशेष सन्दर्भ में)** है। जिसमें धर्मसूत्र ग्रन्थों को केन्द्र में रखकर लोकाचार की वर्तमान समय में प्रासंगिकता को प्रतिपादन करने हेतु चतुर्विध आश्रमों में वर्णित लोकाचार की महत्ता को विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण द्वारा व्याख्या प्रस्तुत की गई है।

यह शोधप्रबन्ध पाँच अध्यायों में विभाजित है। जिसके प्रथम अध्याय **"लोकाचार की अवधारणा"** को वैदिक वाङ्मय का आधार मानते हुए लेखन किया गया है। इसमें सर्वप्रथम लोकाचार का अर्थ एवं परिभाषा का स्पष्टीकरण किया गया है। इसके बाद ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषदों में वर्णित लोकाचार के स्वरूप का विवेचन किया गया है।

लोकाचार मनुष्य के जीवन में आनन्द की भूमिका निभाता है। यह लोकाचार भारतीय संस्कृति में सत्य, निष्ठा, धर्म, संस्कृति और व्यवहार के ज्ञानपरक बिन्दुओं से संयुंक्त होकर प्रेरणा की भूमिका निभाता है। लोकाचार में नैतिक मूल्यों का साक्षात्कार सर्वत्र होता है।

वैदिक साहित्य में लोकाचार के सन्दर्भ में सत्य के पालन को महत्त्वपूर्ण माना गया है। ऋग्वेद में सत्य के सन्दर्भ में स्पष्ट कहा गया है - **"सा मा सत्योक्तिः परिपातु विश्वतः"।** अर्थात् वह सत्य मेरी चारों दिशाओं में रक्षा करे।[25] सत्यवादी मनुष्य जीवन श्रेष्ठ सफलता को प्राप्त करता है। जो मनुष्य सत्य का पालन करता है वह जीवन में दीक्षित होकर सत्यवादी के रूप में प्रतिष्ठित होता है। कौषतकी ब्राह्मण में भी कहा गया है - मनुष्य जितना सत्य का पालन करेगा या सत्य नियमों में जीवन में ढ़ालने का प्रयत्न करेगा, वह उतना ही जीवन में दीक्षित होगा। दीक्षा से ही सत्य उत्पन्न होता है।[26]

इसी प्रकार श्रद्धा, धर्म, अध्यात्म और नैतिक मूल्यों को जीवन में धारण करना आदि लोकाचार के नियमों को प्रस्तुत कर लोकाचार की अवधारणा को स्पष्ट किया गया है। अन्त में लोकाचार की वर्तमान समय में प्रासंगिकता के महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है।

द्वितीय अध्याय **"ब्रह्मचर्य आश्रम में लोकाचार"** विषय पर विस्तार पूर्वक जानकारी प्रदान की गई है। इस अध्याय के प्रारम्भ में आश्रम व्यवस्था में ब्रह्मचर्य आश्रम की आधार पीठिका एवं ब्रह्मचर्य आश्रम का प्रमुख आधारों की व्याख्या की गई है। जिसमें वर्ण विधान, ब्रह्मचारी, ब्रह्मचारी का संरक्षण, उपनयन संस्कार, आयु विमर्श, ब्रह्मचारी का स्वरूप, ब्रह्मचारी परिधान आचार, ब्रह्मचारी द्वारा दण्ड रखना, कमण्डल, केश, मेखला का वर्णन किया गया है। यहाँ पर गुरु और शिष्य में लोकाचार का वैशिष्ट्य, गुरु - शिष्य आचार, पठन - पाठन आचार, स्वाध्याय आचार, ब्रह्मचारी के कर्तव्यों की व्याख्या की गई है। इसी क्रम में ब्रह्मचर्य आश्रम में भिक्षाचार, भिक्षाटन में सम्बोधन प्रयोग, शौच आचार, यज्ञोपवीत, सूर्योदय से पहले उठना, संयम धारण, भोजन आचार, सत्य वक्ता, चरण स्पर्शाचार एवं निषेध आचार

---

[25] *ऋ.*, १०/३७/२

[26] यः सत्यं वदति स दीक्षितः। सत्ये ह्येव दीक्षा प्रतिष्ठिता भवति॥ *कौषतकी ब्राह्मण*, ७/३

के प्रमुख नियमों में जूआ, अपशब्द वर्जन, मादक पदार्थों का निषेधाचार, अपशब्द वर्जन, निषध वाहन तथा अन्य निषध कर्मों का विवेचित किया गया है। इसी क्रम में सौन्दर्य प्रसाधनों का प्रयोग, स्नातक के वस्त्र, स्नातक के कर्तव्य, स्नान, निषध मार्ग, निषध दर्शन, भक्षय तथा अभक्षय पादर्थ तथा कमण्डलु का महत्त्व तथा जल ग्रहण की विधि को स्पष्ट करते हुए ब्रह्मचारी जीवन का वर्णन किया गया है। इस अध्याय के अन्त में वर्तमान सन्दर्भ में ब्रह्मचर्य आश्रम की प्रासंगिकता को विश्लेषणात्मक दृष्टि से व्याख्यायित किया गया है।

तृतीय अध्याय में **"गृहस्थ आश्रम में लोकाचार"** विषय को केन्द्रभूत करते हुए धर्मसूत्रों के आधार पर समीक्षा की गई है। इस अध्याय में गृहस्थ आश्रम में वर्णित लोकाचार के प्रमुख विषय का विवेचन किया गया है। जिसमें वैवाहिक लोकाचार, कुल सम्बन्ध, योग्य वधू हेतु लोकाचार, योग्य वर हेतु लोकाचार, वैवाहिक आयु, सपिण्ड, सगोत्र, सप्रवर आदि की व्याख्या की गई है। इसी क्रम में अष्टविध वैवाहिक लोकाचार के अन्तर्गत ब्रह्म विवाह, प्रजापति विवाह (प्राजापत्य), आर्ष विवाह, दैव विवाह, गान्धर्व विवाह, आसुर विवाह, राक्षस विवाह तथा पैशाच विवाह विवाह का वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त स्वयंवर, अनुलोम - प्रतिलोम विवाह, एकपत्नी विवाह, बहुपत्नी विवाह, विधवा विवाह तथा पुनर्विवाह, नियोग प्रथा, वैवाहिक उद्देश्यों का प्रतिपादन किया गया है। गृहस्थ आश्रम में पंचमहायज्ञ और लोकाचार की अनिवार्यता को स्पष्ट करते हुए ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ, ऋण त्रय से मुक्ति का वर्णन किया गया है। इसी क्रम में परिवारिक आचार की रूपरेखा, पिता के आचार, माता के आचार, पति के आचार, पत्नी के आचार, पुत्र के आचार, प्रकृति के प्रति लोकाचार तथा अन्याश्रमों के प्रति लोकाचार के दान के महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है। अन्त में गृहस्थ आश्रम की वर्तमान प्रासंगिकता की समीक्षा को प्रस्तुत किया गया है।

चतुर्थ अध्याय **"वानप्रस्थ आश्रम में लोकाचार"** के सन्दर्भ में सारगर्भित एवं विश्लेषणात्मक बिन्दुओं का प्रतिपादन किया गया है। जिसमें वानप्रस्थ आश्रम का परिचय देते हुए इसके नियमों का वर्णन किया गया है। वानप्रस्थ आश्रम मानव जीवन का प्रमुख भाग है। समाज में रहकर समाज के उत्थान की समझ को आगे ले जाना इस आश्रम का प्रमुख कार्य है। वानप्रस्थ में श्रेष्ठ व्यवहार और लोकाचार की सर्वाधिक आवश्यकता होती है। समाज की बुराईयों को खत्म करने में लोकाचार महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इस अध्याय में वानप्रस्थ आश्रम का बिन्दुओं सहित वर्णन करते हुए उसमें लोकाचार की उपयोगिता को स्पष्ट किया गया है।

पञ्चम अध्याय **"संन्यास आश्रम में लोकाचार"** विषय को केन्द्र में रखा गया है। इस अध्याय में संन्यास आश्रम में वर्णित लोकाचार को स्पष्टता पूर्वक विवेचन किया गया है। जिसमें संन्यास का परिचय देते हुए संन्यास की आयु, संन्यासी के गुण, संन्यासी के उपदेश एवं संन्यासी के संदेशों का वर्णन किया गया है। समाज को संन्यासी जीवन सर्वाधिक प्रभावित करता है। अतः संन्यासी द्वारा दी जाने वाली शिक्षाओं को समाज सर्वाधिक अनुकरणीय मानता है।

संन्यासी लोकाचार का पालन करना अपना धर्म मानते है। समाज को सत्य, प्रेम, भाईचारा, अध्यात्म एवं मोक्ष इत्यादि के गम्भीर विषयों की प्रेरणा प्रदान करते हैं। संन्यास आश्रम में संन्यासी लोकाचार की परिपक्वता को प्राप्त करता है। संन्यासी समाज को नैतिक मूल्यों से अवगत कराता है। ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थ आश्रम, वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रम में लोकाचार के बिन्दुओं का परस्पर साम्य वैषम्य स्थापित करते हुए वर्णन किया गया है।

अन्त में शोधप्रबन्ध का उपसंहार करते हुए विवेचनात्मक, विश्लेषणात्मक, विवरणात्मक, लोकाचारिक बिन्दुओं के आधार पर इसकी वर्तमान प्रासंगिकता का विवेचन किया गया है।

॥ इति प्रस्तावना ॥

प्रथम अध्याय

लोकाचार की अवधारणा

प्रथम अध्याय

लोकाचार की अवधारणा

मनुष्य के जीवन में धर्म का होना अनिवार्य है। लोकधर्म का पालन करना मनुष्य का सबसे बड़ा धर्म है। लोक अथवा समाज में व्यवहार का श्रेष्ठ होना ही लोकाचार है। यह मनुष्य के जीवन में आनन्द की स्थापना करता है। इसका विस्तारपूर्वक स्वरूप भारतीय धर्मशास्त्रों में पदे पदे विवेचित किया गया है। सर्वप्रथम लोकाचार के अर्थ एवं परिभाषा को समझना आवश्यक है। जिसका वर्णन इस प्रकार है।

१.१ लोकाचार का अर्थ एवं परिभाषा :-

लोकाचार शब्द लोक और आचार दो शब्दों के योग से बना है। (लोक + आचार) पहला शब्द लोक (पु०, लोक्यतेऽसौ, लोक्+घञ्) अर्थात् दुनिया या संसार और दूसरा आचार शब्द में आ उपसर्ग तथा 'चर्' धातु के संयोग में 'घञ्' प्रत्यय है। (आ + चर् + घञ् = आचार) अर्थात् आचरण, व्यवहार, काम करने की रीति, चाल चलन, प्रथा, प्रचलन। इस प्रकार स्पष्ट है कि -लोकाचार से अभिप्राय संसार का सामान्य आचार व्यवहार अर्थात् प्रचलन में प्रयुक्त प्रथा सम्बन्धित कानून जीवन का व्यवहार या नियन्त्रित जीवन के नियम।[27]

मानव जीवन में पालन किए जाने वाले सभी नियम आचार के अन्तर्गत आते हैं। लोक में प्रचलित आचारों या व्यवहारों का जीवन में पालन करना ही लोकाचार कहलाता है।

---

[27]. आप्टे, वामन शिवराम, *संस्कृत - हिन्दी कोश*, पृ., १४१

लोकाचार में लोक के सभी नियमों को जीवन में धारण करते हुए श्रेष्ठ एवं आनन्दमय जीवन जीने का लक्ष्य निर्धारित होता है। लोकाचार को लोकशास्त्र, व्यवहारशास्त्र अथवा नीतिशास्त्र के नाम भी जाना जाता है।

आचार शब्द व्यवहार का वाचक है। आचार की व्युत्पत्ति के विषय में कहा जाता है - **" आचर्यते यः स आचारः। "** वह मानसिक क्रिया जिसके द्वारा व्यवहार किया जाता है। व्यवहार में अशुभ कार्य दुराचार कहलाता है और श्रेष्ठ कार्य आचार का द्योतक माना गया है।

आचार्य मनु ने स्मृति ग्रन्थ में कहा है - आचार शुभाभिमुख होगा तो वह सदाचार कहलाएगा और यदि वह अशुभ दिशा की ओर हुआ तो उसका नाम दुराचार होगा। इस प्रकार से आचार शब्द सदाचार का द्योतक है।[28] वस्तुतः आचार शब्द आङ् उपसर्ग चर् धातु के भाव अर्थ में घञ् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है।[29] आचार चर् धातु में गति अर्थ होने के कारण वह आत्मने पद में **" अत् सातत्य गमने "** से उपलब्ध होता है। इससे स्पष्ट होता है कि गतिशीलता आत्मा पद में विद्यमान होती है।

संस्कृत साहित्य में लोकाचार के बीज सर्वप्रथम वैदिक सहित्य में परिलक्षित होते हैं। भारतीय ज्ञानसंस्कृति में मनुष्य के हितार्थ नैतिक मूल्यों का कदम - कदम पर वर्णन किया गया है। वैदिक ज्ञानपरम्परा में नैतिक मूल्यों के चिन्तन का साक्षात्कार सर्वत्र परिलक्षित होता है। भारतीय संस्कृति को मनीषियों की संस्कृति है। यह ज्ञानमयी संस्कृति निरन्तर समन्वितरूप से सर्वत्र प्रवाहित होते हुए अपने ज्ञान को उद्घाटित कर रही है। मानव को जीवन के प्रत्येक पथ पर प्रेरणा प्रदान करती है जैसे –

---

28. तस्मिन् देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः।
वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते॥, *मनु.* २/१८

29. आङ् मर्यादाभिविध्योः।, *पा. सू.*२/१/१३

" सर्वे भवन्तु सुखिन: सर्वे सन्तु निरामया:,

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दु:खभाग्भवेत्। "

इसमें लोकाचार के सभी नियमों का पालन किया गया है। इस संस्कृति में सारे संसार को अपना परिवार मानते हुए सत्य एवं लोकाचार का उद्घोष किया गया है - ' **वसुधैव कुटुम्बकम्।** ' यदि मानव जीवन में व्यक्ति सत्य और लोकाचार का आचरण करता है तो उसके जीवन में सर्वत्र आनन्द ही आनन्द रहेगा।

इसके सन्दर्भ में भगवान् कृष्ण ने गीता में स्वयं कहा है कि - महापुरुष जो आचरण करता है; सामान्य व्यक्ति उसी का अनुसरण करते हैं। वह अपने अनुसरणीय कार्यों से जो प्रस्तुत करता है; सम्पूर्ण विश्व उसका अनुसरण करता है।[30]

लोकाचार को भारतीय लोकपरम्परा में अनेक नामों से जाना जाता है। लोकाचार के लिए मनुष्य में मानवता का होना अनिवार्य है। लोक में रहकर सभी प्राणियों के प्रति मधुर व्यवहार होना चाहिए।

संस्कृत साहित्य के सभी ग्रन्थों में लोकाचार का वर्णन प्रतिपादित है। इसमें सर्वप्रथम वैदिक साहित्य में वर्णित लोकाचार का वर्णन, प्रेरणा एवं आधार का प्रमुख आधार है। जिसका स्वरूपात्मक विवेचन यहाँ सरलता एवं गाम्भीर्य के साथ क्रमशः यहाँ प्रतिपादित किया गया है।

१.२ ऋग्वेद में लोकाचार :-

ऋग्वेद सभी वेदों का आदि ग्रन्थ माना गया है। यह ज्ञान का भण्डार है। इसमें समाज के सर्वविध विषयों का सरलता के साथ प्रतिपादन किया गया है। लोकाचार के

---

30. यद्यदाचरतिश्रेष्ठस्तत्तद्वेतरो जन:।

स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥ *गीता,* ३/२१

सन्दर्भ में ऋग्वेद में चर् धातु का उल्लेख करणीय कर्म का विधान करने के साथ - साथ अकरणीय कर्म का निषेध करने हेतु किया गया है। यहाँ पर स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि - हम प्राणीजन न ही हिंसा करते हैं और न ही आपस में विद्रोह डालते हैं।[31] इन वैदिक उपदेशों से आचार का महत्त्व मानव के अधिक अनुकरणीय हो जाता है। मानव जीवन में आचार आनन्द को प्रदान करने वाला है। यही आचार मनुष्य को देवता और राक्षस की कोटि प्रदान करता है। श्रेष्ठ आचार धारण करने वाला मनुष्य देवता के समान माना गया है और अश्रेष्ठ व्यवहार करने वाला मनुष्य को राक्षस के समान माना गया है। अतः मानव जीवन में देवत्व को प्राप्त करने के लिए आचार को जीवन में धारण करना चाहिए।

सम्पूर्ण साहित्य अथवा वेदों का अध्ययन करने के पश्चात् भी यदि कोई जन आचार को ग्रहण नहीं करता है तो उसको वैदिक फल की प्राप्ति नहीं हो सकती। ऋग्वेद में स्पष्ट कहा गया है कि - आचारहीन व्यक्ति को वेद भी पवित्र नहीं करते हैं।[32] इसलिए आचार का पालन करना मानव का धर्म है। इसका पालन करना आचार्य मनु ने परम धर्म बतलाया है।[33]

विश्व साहित्य के प्रेरणाभूत ग्रन्थ ऋग्वेद में आचार, व्यवहार, लोकाचार एवं मानवीय नैतिक मूल्यों का कदम कदम पर साक्षात्कार होता है। इसमें आचार के सन्दर्भ में सत्य का पालन करना, श्रद्धावान् होना, मर्यादित जीवन जीना, अंहिसा का रक्षक होना, प्राणीमात्र के प्रति प्रेम भावना का होना, नैतिक आचारण का पालन कर आदि विषयों का विस्तार से वर्णन किया गया है। ऋग्वेद में आचार के सन्दर्भ में सर्वप्रथम देवों के गुणों का वर्णन करते हुए उनके व्यवहार एवं आदर्शों का प्रतिपादन किया गया है। देवों के दार्शनिक मीमांसा करने पर हमें ज्ञात होता है कि - देव शब्द

---

31. नकिर्देवा मिनीमसि नकिरा योपयामसि मन्त्रश्रुत्यं चरामसि। *ऋ.* १०/१३४/७

32. आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः। *ऋ.* १/१६४/३९

33. आचारः परमो धर्मः।, *मनु.*४/१०८

दान, प्रकाश, दीपन, द्योतन अथवा दीप आदि अर्थों को स्पष्ट होता है। देव शब्द दिव् धातु से बनता है। जिसका अर्थ होता है - प्रकाशित होना या करना। देवता में दयालुता, परोपकारिका का होना स्वाभाविक है। यह सत्य का प्रकाशन करने वाला होता है। मनुष्य के जीवन में सभी अशुभ कार्यों का निराकरण करने वाला देवता है। यह देवता सत्य एवं दान आदि के व्रतों का पालक है।[34] देवता का अनुकरण करने वाला मनुष्य भी स्वभाव से सत्त्व गुण को प्राप्त करते हुए देवत्व को प्राप्त करता है। मानव का श्रेष्ठ व्यवहार उसको देवता पद से सुशोभित करता है। यदि वह समाज में अश्रेष्ठ व्यवहार करता है तो समाज में उसको राक्षस की श्रेणी में माना जाता है। इसलिए देवता का अनुकरण करना चाहिए।

वैदिक साहित्य लोकाचार के सन्दर्भ अनेक विध देवों का प्रसंग उपस्थित होता है। देवता सत्य मार्ग के प्रणेता एवं अनुकरणीय माने गए हैं। सत्य को धारण करने पर देवत्व पद प्राप्त होता है। ऋग्वेद में सत्यपालक को देवता की उपाधि प्रदान करते हुए कहा गया है कि -

" ऋग्वेद ऋतं यो अग्ने अनृतेन हन्ति।

तमर्चिषा स्फूर्जयञ्जातवेदः॥"[35]

इस प्रकार यहाँ पर असत्यवादी को दण्डित करने की प्रार्थना की गई है।[36] ऋग्वेद में श्रद्धा को लोकाचार का प्रमुख अंग माना गया है। श्रद्धा के बिना मनुष्य को ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती है।

यहाँ पर स्पष्ट कहा गया है - जो सच्ची श्रद्धा से युक्त मन से देवों के पिता बृहस्पति की सेवा करता है, वह मनुष्य अपने आत्मीयजन, पुत्र तथा परिवारजनों के

---

34. ऋ. ५/६७/४

35. ऋ. ५/६५/२

36. ऋ., १०/६७/११

साथ अन्न और धन को प्राप्त करता है।[37] इसलिए मनुष्य को यथा योग्य व्यवहार करके स्वयं प्रजा एवं समाज में स्थापित करना चाहिए। ऋग्वेद में भी कहा गया है -

"उदगायमादित्यो विश्वेन सहसा सह।

द्विषन्तं मह्यं रन्धयन्मो अहं द्विषते रथम्॥"[38]

अर्थात् मनुष्य को उचित रूप से अनन्त बलयुक्त होकर परमेश्वर के बल के निमित्त प्राण और बिजली के दृष्टान्त से वर्त्त के सत्पुरुषों के साथ मित्रता करते हुए सभी प्रजाओं का पालन यथा योग्य व्यवहार का अनुसरण करना चाहिए।

इसी प्रकार से मनुष्य को ब्रह्मचर्य जीवन का पालन करते हुए सत्त्व प्रधान भोजन ग्रहण करना चाहिए। भोजन के गुणों के आधार पर मनुष्य में त्रिविध गुणों की प्रधानता होती है। ब्रह्मचर्य का स्पष्ट विवेचन यहाँ प्रस्तुत किया गया है -

" जुषस्व सप्रथस्तमं वचो देवप्सरस्तमम् ।

हव्या जुह्वानं आसनि॥ " [39]

अर्थात् जो मनुष्य युक्तिपूर्वक भोजनपान और चेष्टाओं से युक्त ब्रह्मचारी हो, वे शरीर और आत्मा के सुख को प्राप्त होते हैं। अतः हमें आहार और व्यवहार दोनों को श्रेष्ठ बनाने का प्रयास करना चाहिए।

ऋग्वेद में लोकाचार के बिन्दुओं का कदम - कदम वर्णन उपलब्ध होता है। यहाँ बार - बार मनुष्य को श्रेष्ठ आचरण, व्यवहार, लोकाचार की प्रेरणा प्रदान की

---

37. स इज्जनेन स विशा जन्मना स पुत्रैर्वाजं भरते धना नृभिः।
देवानां यः पितरमाविवासति श्रद्धामना हविषा ब्रह्मस्पतिम्॥ ऋ. २/२६/३

38. ऋ., १/५०/१३

39. ऋ., १/७५/१

गई है। लोकाचार के सन्दर्भ में ऋग्वेद में प्रतिपादित प्रमुख विषयों का सारांश रूप में वर्णन इस प्रकार है।

१. मनुष्य को चाहिए कि - उत्तम और असाधारण कर्म करके सदा सुख प्रदान करने वाले धार्मिक मनुष्य के साथ मित्रता स्थापित करें और धार्मिक व्यक्तियों का संग करें।[40]

२. विद्यावान होकर शुद्धात्मजनों का जो लोग संग करते हैं, वे दीर्घ जीवी होते हैं। वे विद्वानों के सहचरी होते हैं। उनको दुःख देने का सामर्थ्य कोई भी नहीं कर सकता है।[41]

३. विद्याओं का प्रचार करते हुए मनुष्य को आगे बढना चाहिए।[42]

४. माता - पिता की सेवा करनी चाहिए।[43]

५. सत्यवादी मनुष्य समाज में सदैव श्लाघनीय होता है।[44]

६. परनिन्दा और पाप का त्याग कर देना चाहिए।[45]

इस प्रकार से ऋग्वेद में लोकाचार एवं नैतिक मानवीय मूल्यों का विस्तार से वर्णन किया गया है। मानव को सदैव सदाचारी जनों के संग रहकर देवत्व को प्राप्त

---

40. न त्वदुन्तयो मघवन्नस्ति मर्डितेन्दु ब्रवीमि ते वचः। *ऋ.* १/८४/१९

41. त्वया वयमुत्तमं धीमहे वयो बृहस्पते प्रप्रिणा सस्त्रिना युज।
मा नो दुःशंसो अभिदिप्स्त्रीशत प्र सुशसा मतिभिस्तारिषीमहि॥ *ऋ.* २/२३/१०

42. *ऋ.* ३/८/३

43. *ऋ.* ४/६/७

44. *ऋ.* ५/८५/५

45. अतीयाम निदस्तिर स्वस्तिभिर्हित्वावद्यमरातीः।
वृष्टवी शं योराप उस्त्रि भेषजं स्याम मरुतः सह।। *ऋ.* ५/४३/१४

करते हुए जीवन जीना चाहिए। प्रत्येक मनुष्य को अपने नैतिक भावों और मूल्यों को समाज में स्थापित करते हुए लोकाचार युक्त जीवन का पालन करना चाहिए।

१.३ यजुर्वेद में लोकाचार :-

यजुर्वेद में भारतीय संस्कृति को प्रथम संस्कृति कहा गया है - **"सा प्रथमा संस्कृति विश्ववारा।"**[46] यजुर्वेद के प्रसिद्ध मन्त्र में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के एकत्व की भावना को उद्घाटित किया गया है - **"यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।"**[47] अर्थात् जहाँ समस्त संसार एक घर है। इस घर में रहने वाले सभी मानव और प्राणी हमारे भ्रातृजन हैं। हमे उनके साथ सदैव आत्मीयता युक्त व्यवहार करना चाहिए। सत्पुरुषों के व्यवहार से मानव को प्रेरणा लेनी चाहिए।

लोकाचार के सन्दर्भ में यजुर्वेद में स्पष्ट रूप से सत्य को परिभाषित किया गया है - हे व्रतों के स्वामी अग्निदेव! मैं व्रत को ग्रहण करुँगा, मैं उससे समर्थ होकर, मेरा व्रत सिद्ध होवे। मैं अनृत से हटकर सत्य को प्राप्त करता हूँ।[48] इसी प्रकार लोकाचार में श्रद्धा का विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान था। श्रद्धा के सन्दर्भ में यहाँ स्पष्ट विवेचन किया गया है-

" व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षीणाम् ।

दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते॥ "[49]

---

46. *यजु.* ७/१४

47. *यजु.* ३२/८

48. अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्। इदमहमनृततात्सत्यम्पैमि॥ *यजु.*, १/५

49. *यजु.*, ११/३०

अर्थात् व्रत धारण करने से दीक्षा होती है। दीक्षा से दक्षिणा प्राप्त होती है। दक्षिणा से श्रद्धा और श्रद्धा से सत्य की प्राप्ति होती है। इसी क्रम में यजुर्वेद में लोकाचारगत बिन्दुओं का वर्णन यहाँ प्रस्तुत है।

१. यजुवेद में सत्य की प्रेरणा प्रदान की गई है।

२. यजुर्वेद में परोपकार के सन्दर्भ में विस्तार से कहा गया है।

३. विश्वबन्धुत्व की भावना का विशद् वर्णन यजुर्वेद में प्रतिपादित है।

४. माता - पिता की सेवा करने की प्रेरणा प्रदान की गई है।[50]

५. यजुर्वेद में दुराचार से सदाचार की ओर जाने की प्रेरणा प्रदान की गई है।[51]

६. अपने जीवन में सभी मलों को दूर करने का वर्णन किया गया है।[52]

इस प्रकार से यजुर्वेद में लोकाचार साक्षात्कार सर्वत्र परिलक्षित होता है। इसमें विद्यार्थियों के कर्म, पुरुषार्थ कर्म, पुरुषार्थी बनने की प्रेरणा, ब्रह्मचर्य का पालन एवं आत्म निरीक्षण करने का वर्णन किया गया है। समाज में यह लोकाचार अनुकरणीय है। इसके आधार पर अनेक ग्रन्थों का लेखन कार्य हुआ है। जो समाज में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

१.४ सामवेद में लोकाचार :-

सामवेद में लोकाचार के विषयों का वर्णन परिलक्षित होता है। यहाँ पर बताया गया है - मनुष्य को प्रकृति के सानिध्य में लोकव्यवहार को अपनाना चाहिए।

---

50. *यजु.*, २/३४

51. परि माग्ने दुश्चरिताद् बाधस्वा मा सुचरिते भज। उदायुषा स्वायुषोदस्थाममृताँ। *यजु.*, ४/२८

52. तद्विष्णोः परमं पदसद पश्यन्ति सूरयः दिवीव चक्षुराततन्म्। *यजु.*, ६/५

प्राणीमात्र के प्रति दयाभाव का होना मनुष्य का प्रथम गुण है। सारा संसार प्रकृति से ओत - प्रोत है। इसमें दाम्पत्य जीवन में नैतिक मूल्यों को विस्तार से प्रतिपादित किया गया है। इसमें गान ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है - **"स च अमश्चेति तत् साम्नः सामत्वम्।"**[53] सामवेद के लोकाचार के महत्त्व का बिन्दुओं सहित वर्णन इस प्रकार है।

१. साम के बिना लोकाचारीय यज्ञ अपूर्ण है।[54]

२. सामवेद को जो जानता है वह वेद के रहस्य को जान सकता है।[55]

३. सामवेद सभी वेदों का सार है।[56] अतः इसका अध्ययन करना चाहिए। इस प्रकार से सामवेद में सभी वेदों का सारांश व्याप्त है।

गीता में श्री कृष्ण द्वारा स्पष्ट कहा गया है - **"वेदानां सामवेदोऽस्मि।"**[57] अतः स्पष्ट होता है कि सामवेद में भी लोकाचारीत विषयों का वर्णन यत्र तत्र उपलब्ध होता है।

१.५ अथर्ववेद में लोकाचार : -

अथर्ववेद में भी कहा गया है - समाज में सभी जनों को समाज में रहते हुए मिलकर चलना चाहिए, मिलकर बोलना चाहिए और अपने मन के सभी प्रकार के मैलों को दूर कर देना चाहिए। श्रेष्ठ लोकाचार द्वारा मनुष्य को सद्भावना और मैत्री

---

53. *बृ. उ.* ,१/३/२२

54. नासामा यज्ञोऽस्ति । *श.ब्रा.* १/४/१/१

55. समानि यो वेत्ति स वेद तत्त्वम् , *बृहद्देवता*

56. सर्वेषां वा एष वेदानां रसो यत् साम् । *श.ब्रा.* १२/८/३/२३

57. गीता,१०/२२

भावना सिखाती है।[58] लोकाचार विश्व का सर्वश्रेष्ठ धर्म है। इसको जीवन में आत्मसात करना चाहिए। जीवन में प्रेम, अहिंसा, परोपकार, सदाचार और नैतिक मूल्यों महत्त्व अमृत के समान माना गया है। इसमें मधुरता को अपनाने का वर्णन करते हुए कहा गया है कि -

" मधुमन्मे निक्रमणं मधुन्मने परायणम् ।

वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसंदृशः॥ "

अर्थात् जो भी मनुष्य अपने घर, सभा, राजद्वार, देश, प्रदेश तथा राज्य आदि में आने जाने तथा निरीक्षण करने में अपनी मधुर वाणी का प्रयोग करता है, रसभरे शब्दों को बोलता है, उसका सभी सम्मान करते हैं, महात्मा भी उसका सत्कार करते हैं, संसार में वह शुभकर्मी होकर प्रसिद्ध होता है।[59] लोकसमाज में भाईचारे के साथ रहने की प्रेरणा प्रदान की गई है। यहाँ पर स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि -

" मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।

सम्यञ्च सव्रता भुत्वा वाचं वदत भद्रया॥ "

अर्थात् समाज में रहने वाले भाई - भाई आपस में नियमपूर्वक मेल मिलाप से रहे। कदापि द्वेष न करें। वैदिक लोकाचार का अनुकरण करें।[60] इसी प्रकार अन्य लोकाचारीय उपदेशों का वर्णन इस प्रकार है।

१. सत्यवादी बनें, सदा सत्य बोलें।[61]

---

58. "सं गच्छध्वं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥" अथर्व. ६/६४/१

59. *अथर्व.* १/३४/३

60. *अथर्व.* ३/३०/३

२. गुणों को ग्रहण करें, पाप का त्याग करें।[62]

३. जीवन में सदैव आगे बढने का प्रयास करें। [63]

४. विद्या प्राप्त करें।[64]

५. ईर्ष्या का नाश करें[65] और यशस्वी होने के लिए प्रार्थना करें।[66]

इस प्रकार से अथर्ववेद में सर्वत्र लोकाचार के नियमों का वर्णन किया गया है। यह लोकाचार आधुनिक समाज में अनुकरणीय है। इसको अपनाकर जीवन में प्रेरणा ग्रहण करनी चाहिए। अथर्ववेद में पाप से बचना, शुभ कर्म करना, आदर्श मित्रता करना, आगे बढने का प्रेरणा, सत्य का पालन करना, असत्य को त्यागना और अतिथि का सम्मान करना, श्रेष्ठ भोजन ग्रहण करना, मधुर व्यवहार करना, अग्रजों का आदर करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना, त्यागपूर्वक जीवन जीना, वेद मार्ग पर चलना आदि लोकाचारीय विषयों का विस्तार से विवेचन किया गया है।

१.६ ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थों में लोकाचार :-

वैदिक साहित्य के प्रमुख भाग, ब्राह्मण और आरण्यक में भी लोकाचार के नियमों का वर्णन मिलता है। सभी नियम मानव के लिये उपयोगी हैं।

संहिता भाग वेद का मन्त्र भाग है, इसके मन्त्रों में लोकाचार के बिन्दुओं का विवेचन मिलता है। वेद के मन्त्र भाग को ही संहिता कहते है। उपरोक्त भाग में मन्त्रों द्वारा लोकाचार के विषय का प्रतिपादन कर दिया गया है।

---

61. इदम् विद्वानाञ्जन सत्यं वक्ष्यामि नानृतम्। *अथर्व.* ४/९/७

62. *अथर्व.* ५/३/४

63. अनहुत पुनरेहि विद्वाउदयनं पथः । आरोहणमाक्रमणं जीवतोजीवतोऽयन्म्। *अथर्व.* ५/३०/७

64. *अथर्व.* ६/८/१

65. *अथर्व.* ६/१८/१

66. *अथर्व.* ६/३१/३

ब्राह्मण ग्रन्थों में ऋषियों के द्वारा लोकाचारीय नियमों का समाज के लिए प्रतिपादन किया गया है। इनमें यज्ञ का वर्णन, उसका विनियोग करना, विधिविधान, प्रतिष्ठान, स्थापना आदि का विवेचन किया गया है। इन ग्रन्थों में यज्ञ के नाना रूपों का वर्णन, आख्यानों द्वारा लोकाचारीय प्रेरणा, शास्त्रीय संगीत का ज्ञान, नीतिशिक्षा का विवेचन, आचार शिक्षा का विवेचन तथा जीवन के महत्त्वपूर्ण विषयों का प्रतिपादन किया गया है।

इसी क्रम में आरण्यक ग्रन्थों में लोकाचार के विषय सामान्यतया परिलक्षित होते हैं। इनमें प्राणविद्या, काल का स्वरूप, यज्ञ का महत्त्व, जीवन मूल्यों की विशद् व्याख्या की गई है। सभी में मनुष्य के आत्मस्वरूप के चिन्तन का विवेचन, वैदिक अनुष्ठानों का जीवन में उपयोग, तपस्या, श्रद्धा, प्रेम, अहं ब्रह्माऽस्मि, गायत्री उपासना, सामगान, तथा जीवात्मा को प्रेरित करने के लिए लोकाचार के नियमों का विस्तार से उल्लेख किया गया है।

१.७ उपनिषदों में लोकाचार :-

उपनिषद् साहित्य भारतीय ज्ञान संस्कृति का प्रमुख शाखा है। इसमें कदम - कदम पर नैतिक मूल्यों एवं व्यवहार तथा लोकाचार का वर्णन परिलक्षित होता है।

लोकाचार के सन्दर्भ में ईशावास्योपनिषद् में स्पष्ट कहा गया है कि - संसार में मानव अकेला ही जन्म लेता है और अकेला ही मृत्यु को प्राप्त करता है। संसार के भोग कार्यों में अधिक लिप्त न होना चाहिए। प्रथम मन्त्र में स्पष्ट कहा गया है - जगत में जो कुछ स्थावर जङ्गम संसार है, वह सब ईश्वर के द्वारा आच्छादित है। (उसके भगवत्स्वरुप का अनुभव करना चाहिए) उसके त्याग - भाव से अपना पालन कर, किसी के भी धन की इच्छा न कर अर्थात् आकांक्षा मत कर। यह सब आत्मा ही है। इस प्रकार की ईश्वर भावना से यह सब परित्यक्त हो जाता है। संसार में सदैव शुभ कर्मों को करते हुए जीवन को आनन्द से व्यतीत करना ही परम सुख है।[67] मनुष्य को

---

67. "ईशावास्यमिदं सर्व यत्किञ्चित् जगत्यां जगत्।

अनासक्त भाव से प्राणिमात्र से मानव पर्यन्त सभी की सेवा करने का अपना कर्तव्य समझना चाहिए। एक साधक सारे संसार को अपने कुटुम्ब के भाव से देखता है।[68] उसके लिये सारा संसार ही अपना परिवार है। साधक श्रेष्ठ कर्मों से युक्त जीवन जीते हैं। कर्म के बिना मनुष्य जड़ के समान है। कर्म करने से ही पितृलोक की प्राप्ति होती है और विद्या से देवलोक की प्राप्ति होती है।[69]

विद्या अमृतत्त्व प्राप्त होता है। अतः मनुष्य को स्वाध्यायशील होना चाहिए। ईशावास्योपनिषद् में भी कहा गया है कि - "**विद्ययामृतमश्नुते।**"[70] विद्या के ग्रहण करने से मनुष्य में विवेक उत्पन्न होता है। इससे वह काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहिंसा आदि दुर्गुणों का परित्याग करके सभी प्राणीमात्र को लोक व्यवहारवादी चिन्तन की दृष्टि से देखने लगता है और उसके जीवन में सुविचारों का आगमन होना प्रारम्भ हो जाता है। बुरे कार्यों का त्यागकर वह मानवता का वास्तविक स्वरुप ग्रहण कर लेता है।

वह अपने इष्टदेव से भी प्रार्थना करता है - हे अग्ने ! हमें कर्मफल भोग के लिये सन्मार्ग पर ले चल। हे देव ! तू समस्त ज्ञान और कर्मों को जानने वाला है। हमारे पाखण्डपूर्ण पापों को नष्ट करो। हम तेरे लिये अनेकों नमस्कार करते हैं।[71]

तेन त्यक्तेन भुञ्जिथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्"॥ ईशा.उ. प्रथम मन्त्र

68. वही, मन्त्र - ६

69. बृ. उ., १/५/१६

70. ईशा.उ. मन्त्र -११

71. "अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।

युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भुयिष्ठां ते नमः उक्तिं विधेम"॥ ईशा.उ., मन्त्र-१

मुण्डकोपनिषद् में स्पष्ट कहा गया है कि - **"ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्।"**[72] *बृहदारण्यकोपनिषद्* का ऋषि मानव को इंगित करता है कि **- "इदं सर्वं यदयम् आत्मा।"**[73] संसार ईश्वर की अनमोल रचना है। इसमें सदैव स्नेह एवं प्रेमभाव से रहना चाहिए। मनुष्य जन्म दुर्लभ है **- "दुर्लभं मनुष्यत्वम्।"** मनुष्य को पशु प्रवृत्ति का सदैव त्याग करना चाहिए। खाना, पीना, सोना और मैथुन करने वाले मनुष्य को पशु की संज्ञा दी जाती है कि - **आहार निद्रा भय मैथुनञ्च सामान्यमेतद्पशुभिर्नराणाम्।** मानव को अपने जीवन में कर्तव्यनिष्ठ होना चाहिए। इसके सन्दर्भ में केनोपनिषद् में लोकाचार पूर्वक जीवन जीने हेतु प्रारम्भ में ही ऋषि मानव के सभी अङ्गों को पुष्ट करते हुए ब्रह्म के विषय में कहता है - मेरे अंग पुष्ट हों तथा मेरे वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, बल और सम्पूर्ण इन्द्रियाँ पुष्ट हों। यह सर्वोपनिषद्वेद्य ब्रह्म है। यह संसार उसकी अद्भुत कृति है। अपने चित्त को सदैव प्रसन्न रखना चाहिए और श्रेष्ठ कर्म करने चाहिए। क्योंकि कर्म और ज्ञान सम्यक् प्रकार से सम्पादन किए जाने पर निष्काम मुमुक्षु की चित्तशुद्धि के कारण होते हैं। जिस मानव का चित्त शुद्ध है वह सर्वविध समानभाव से देखता है। वह सुश्रेष्ठ कार्यों में चित्त को निरन्तर लगाए रखता है।[74]

इसी प्रकार से *कठोपनिषद्* में भी कहा गया है कि - वही ब्रह्म वाणी, चक्षु, श्रोत्र, मन, बुद्धि की शक्तियों का मूल कारण है। ज्ञानीजन अपने ज्ञान के द्वारा उसको प्राप्त करते और अपने जीवन में सर्वत्र समत्वभाव की स्थापना करते हैं।[75] अपने विचारों को प्रबल करने के लिये विद्या का अध्ययन करना चाहिए। क्योंकि

---

72. मु. उ.- २/२/११

73. बृ. उ.- २/४/६

74. "आप्यायन्तु मामाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि"। केनोपनिषद्,प्रथम मन्त्र की भूमिका।

75. "तमेव भान्तमनुभाति सर्वं, तस्य भाषा सर्वमिदं विभाति"। *कठोपनिषद्*, २/२/१५

विद्याध्ययन से ही मानव के अंधकार की निवृत्ति होती है। विद्या से अंधकार को निवृत्त करने का मार्ग मिलता है।[76] संसार के प्रत्येक प्राणी के प्रति प्रेमभाव रखना मानव का कर्तव्य है।

सारे संसार के प्राणियों में वही नित्य और विभु तत्त्व विद्यमान है - **"नित्यं विभुं सर्वगतम्।"** गीता में भी भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है - यज्ञ दान और तप विद्वानों को पवित्र करने वाले हैं।[77]

मनुष्य के जीवन में अनेक क्षण आते हैं जब वह अपना विवेक खो बैठता है। ईर्ष्या, क्रोध, द्वेष जैसे अवगुण उसे जकड़ लेते हैं। ये सभी लोकाचार में अनुचित माने गए हैं। इनके कारण मनुष्य का जीवन दूषित हो जाता है। मनुष्य को समाज में शान्तिपूर्वक स्वयं का चिन्तन करना चाहिए। समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व को समझना चाहिए। नित्य जीवन में लोकाचार का मनन एवं चिन्तन करना चाहिए। सभी प्राणियों के प्रति मधुर व्यवहार करना चाहिए। सामाजिक नैतिक मूल्यों का जीवन में पालन करना चाहिए। जब व्यक्ति संसार को समत्वभाव से देखता है, तब उस जीवन का प्रत्येक क्षण आनन्दमय बन जाता है। मनुष्य को पापकर्मो से सदैव दूर रहना चाहिए। पापकर्म क्षीण होने पर ही मनुष्य वास्तविक मानव का स्वरुप धारण करता है और ज्ञान के दर्पण से अपने अन्दर स्थित तत्त्व को जानता है।

महाभारतकार ने भी स्पष्ट लिखा है कि - जब मनुष्य के पापकर्म क्षीण हो जाते हैं, तब आध्यात्मिक ज्ञान का उदय होता है। जैसे मनुष्य अपने को स्वच्छ दर्पण में देखता है वैसे ही अपने अन्तर में आत्मा का अनुभव करता है।[78]

---

76. *कठोपनिषद्*, द्वितीय वल्ली, प्रथम मन्त्र।

77. "दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।", *गीता*, १८/५

78. *महाभारत* - १२/१८७/८

इसी प्रकार से प्रश्नोपनिषद् में लोकाचार के सन्दर्भ में कहा गया है कि - यह मनुष्य अपनी कलाओं के द्वारा समाज में व्यवहार करता है। पुरुष श्रेष्ठ के द्वारा रचा गया है।

यह पुरुष षोडश कलाओं से युक्त होता है - इस पुरुष ने प्राण को रचा, प्राण ने श्रद्धा को, श्रद्धा ने आकाश को, इसी प्रकार क्रमशः वायु, तेज, जल, पृथिवी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म और लोक की रचना की। लोक में नाम को उत्पन्न किया।[79] इसलिए प्रत्येक मानव में अनन्त शक्ति विद्यमान होती है। वह सारे संसार की एकत्व की भावना को जानकर मानव समुदायों में सौहार्दपूर्ण जीवन व्यतीत करता है। जीवन में परोपकार की भावना मनुष्य को अत्यधिक श्रेयस्कारी बना देती है।

अतः प्रत्येक मनुष्य को लोक में प्रचलित सभी जीवन मूल्यों को अपनाकर इनके महत्त्व को समझना चाहिए। मनुष्य को सत्य आचरण, विद्या, तप, ब्रह्मचर्य, संयम और श्रद्धा आदि को जीवन में ग्रहण करना चाहिए। वैरभाव का परित्याग करके सभी के साथ मधुर व्यवहार करना चाहिए। मनुष्य के कर्म श्रेष्ठ होने चाहिए। उपनिषदों की ज्ञानधारा में श्रेष्ठकर्मों की व्याख्या पदे पदे वर्णित है। मनुष्य अपने कर्मों के द्वारा मनुष्यलोक को प्राप्त करता है। दैनिक जीवन में सामाजिक कार्यों में भाग लेते हुए पूजा - पाठ और उपासना तथा यज्ञ का सम्पादन करना चाहिए। उपासना यज्ञ के द्वारा सुविचारों का आगमन होता है।

इसी प्रकार से मुण्डकोपनिषद् में सामाजिक मानवीय मूल्यों का वर्णन किया गया है। संसार में रहते हुए सामाजिक मूल्यों का पालन करना मानव का कर्तव्य है। भारतीय संस्कृति में मानव एकताभाव पाठ स्वयं दूसरों को भी पढ़ाता है। भारतीय

---

79. "सप्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनोऽन्नमनाद्वीर्यं तपो मन्त्राः कर्म लोका लोकेषु च नाम च"।, प्रश्नोपनिषद्, षष्ठ अध्याय, मन्त्र - ४

संस्कृति में पण्डित और विद्वान् उसी को माना गया है जो सभी को समान भाव से देखता है और सभी प्राणियों को अपने जैसा मानता है - **"आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति सः पण्डितः।"** संसार में सर्वभूत आत्मीयता का भाव विद्या ही उत्पन्न करती है।

लोकाचार का ज्ञान शिष्य अपने गुरु के द्वारा सीखता है। गुरु ही उसे लोक व्यवहार का पाठ पढ़ाता है। विश्वबन्धुत्व की भावना की प्रेरणा को प्राप्त करता है और विद्या ग्रहण करता है। क्योंकि अविद्याग्रस्त व्यक्ति का समाज में रहना दुष्कर होता है। अविद्याग्रस्त व्यक्ति अन्धे के समान संसार में भटकते रहते है।[80] हिंसक कार्यों को करते समय उन्हें भय पैदा नहीं होता है। उनका मन मस्तिष्क स्थिर नहीं रहता है। उसका सारा तेज नष्ट हो जाता है। अविद्या ग्रस्त व्यक्ति जीवन में परोपकार, धर्म, सामाजिक मूल्यों से विरक्त रहता है। जबकि मनुष्य को अपने कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिये कठिन से कठिन परिश्रम करना चाहिए; कार्य के परिणाम को बिना सोचे, बिना उसकी जानकारी प्राप्त किये, उसके विषय में बिना आद्योपान्त सुने और बिना वास्तविकता की परीक्षा किये किसी भी कार्य को प्रारम्भ नहीं करना चाहिए।[81]

गुरु के सानिध्य में विद्या का अध्ययन करके सांसारिक कामनाओं पर विजय पाना चाहिए और स्वयं को जानने का प्रयास करना चाहिए। मनुष्य को पुरुषार्थ करना चाहिए। पुरुषार्थ करने पर ही मनुष्य के भाग्य का निर्माण होता है। कर्म करने से ही फल की प्राप्ति होती है। कर्म के फल का वर्णन करते हुए मुण्डकोपनिषद् में स्पष्ट कहा गया है - **एक ही शाखा बैठे दो पक्षियों में** एक तो कर्मफल का भोग करता है और दूसरा केवल देखता है।

---

80. मु. उ., प्रथम मुण्डक, द्वितीय खण्ड, मन्त्र - ८

81. "कुदृष्टं कुपरिज्ञातं कुश्रुतं कुपरिक्षितम्।तन्नरेण न कर्तव्यं नापितेनाऽत्र यत्कृतम्"॥ पञ्चतन्त्र, अपरिक्षितकारक, प्रथम श्लोक

मानव को कभी भी ऊँच - नीच, छोटा - बड़ा आदि की भावना को अपने मन में नहीं रखना चाहिए।[82] मनुष्य को संसार के बन्धन में न बंधकर नित्य उपासना करनी चाहिए। सदा सत्य का पालन करना चाहिए। सत्य से स्वर्ग की प्राप्ति होती है।[83]

मनुष्य सत्यपथ पर चलकर अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है और समाज में सम्मान को प्राप्त करता है। वह सदा अपने पूर्वजों के अनुकरणीय व्यवहार को अपनाता है और उचित कार्यों में लगा रहता है। अपने मधुर व्यवहार से समाज में प्रतिष्ठा को प्राप्त करता है। भारतीय संस्कृति में लोकाचार अथवा व्यवहार के सन्दर्भ में स्पष्ट कहा गया है - हमें उसी प्रकार व्यवहार करना चाहिए जैसै हमारे माता - पिता और गुरु ने सिखलाया है। हमें उनका अनुकरण करना चाहिए।

मनुष्य खेती की तरह पकता है और खेती की भाँति ही फिर उत्पन्न होता है। हमें अपने पूर्वजों के व्यवहार दर्शन को समझना चाहिए। सदा साधु के समान आचरण करना चाहिए। समाज के नैतिक मूल्यो के प्रति सदैव जागरुक रहना चाहिए। **"वसुधैव कुटुम्बकम्"** की भावना से ओत - प्रोत भारतीय ज्ञान परम्परा में शास्त्रों ने प्रेरणा प्रदान की है।

आचार्य रामानुज ने भी अपने कठोपनिषद् भाष्य में वर्णन करते हुए कहा है - सत्कर्मों से ही मानव की जीवन शैली उन्नत होती है। दुष्कर्मों से यदि हम नाता नहीं तोड़े तो हम मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकते है।[84] मनुष्य को अपनी लालसाओं का त्याग

---

82. "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति"॥ मु. उ., तृतीय मुण्डक, प्रथम मन्त्र

83. ताण्डय ब्राह्मण, १८/२/१९

84. रामानुज भाष्य, ब्रह्मसूत्र, ४/१/१३

कर देना चाहिए। मानव की लालसाएँ कभी भी पूरी नहीं होती है। उनसे तृप्त होना कठिन है।

इस प्रकार कह सकते हैं कि उपनिषदों में पग - पग लोकाचार का वर्णन दृष्टिगोचर होता है। इसे विद्या के द्वारा जानकर अपने जीवन में धारण करने के लिए हितकारी है। जो व्यक्ति ऐसा जीवन जीता है वह परमपद को शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है। श्रुति में भी कहा गया है - जो मनुष्य विवेकयुक्त बुद्धि और बुद्धि - सारथी से युक्त और मन को वश में रखने वाला होता है। इस प्रकार वह सन्मार्ग से पार होकर विष्णु के परम पद को प्राप्त करता है।[85]

लोकाचार को धारण करने वाला सदैव आनन्दमय जीवन जीता है। उपनिषद् में सत्य ही कहा गया है - उठो, जागो और श्रेष्ठ पुरुष के पास जाकर ज्ञान प्राप्त करो। जिस प्रकार छूरे की धार तीक्ष्ण और दुरुस्त होती है, तत्त्वज्ञानी जन उस मार्ग को वैसा ही दुर्गम बतलाते हैं।[86] गुरुभक्ति द्वारा इस मार्ग को प्राप्त किया जा सकता है। गुरुभक्ति से मनुष्य के जीवन में श्रेष्ठ लोकाचार की भावनाओं का आगमन होता है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में गुरुसेवा को श्रेष्ठ बताया गया है - **"आचार्योपासनम् वेदशास्त्रार्थस्य विवेकिता।"**[87] अर्थात् गुरुसेवा और शास्त्र का अध्ययन करना चाहिए। शुभकर्मों का आचरण, सत्पुरुषों का संग, मधुर वाणी, प्राणियों में आत्मदृष्टि, कषायों का त्याग, इन्द्रिय निग्रह, प्रमाद त्याग आदि को जीवन में धारण करना चाहिए। गुरु की भक्ति से मनुष्य के विचारों और व्यवहार में लोकाचार का पदार्पण होता है।

---

85. "विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः। सोऽवधनः परमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्"॥ कठोपनिषद्, १/३/९

86. "उत्तिष्ठ जाग्रत प्राप्य वारान्निबोधत्। क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति"। वही, १/३/१४

87. शाङ्करभाष्य, श्वेताश्वतरोपनिषद्, पृ.१०९७

वह गुरु भक्ति एवं विद्या से अमृत को प्राप्त करता है।[88]

इसी प्रकार से छान्दोग्योपनिषद् में भी लोकाचार के सन्दर्भ में विस्तार से वर्णन मिलता है। यहाँ पर स्पष्ट कहा गया है कि - सच्चा मानव वह कहलाता है जो अपने धर्म के नियमों का पालन करता है। धर्म का पालन करने वाला मनुष्य दुराचारी और अहंकारी नहीं हो सकता है। छान्दोग्योपनिषद् में धर्म के तीन स्कन्द बताए गये हैं - **"त्रयो धर्मस्कन्दाः। यज्ञोऽध्ययनं दानमिति।"**[89] अर्थात् यज्ञ, अध्ययन और तप। इनका पालन करने वाला मनुष्य समाज में उच्चपद को प्राप्त करता है।

यह समाज और संसार सभी ब्रह्मरुप ही है - **सर्वं खल्विदं ब्रह्म, तज्जलान इति शान्त उपासीत।**[90] अर्थात् यह सारा संसार ब्रह्मरूप है। संसार में ही ब्रह्म की सर्वोत्तम शक्ति है। यह अद्वैत का उद्घोष है। उसी से सृष्टि उत्पन्न होती है। अतः भाईचारे के भाव से समाज में रहना चाहिए। सद्गुणों को अपनाना चाहिए। इसी प्रकार से छान्दोग्योपनिषद् में लोकाचार का वर्णन करते हुए कहा गया है - **तपो दानम् आर्जस्वम् अहिंसा सत्यवचनम् इति ता अस्य दक्षिणा।**[91] माण्डूक्योपनिषद् में कहा गया है कि हम सब एक हैं। संसार के समस्त जीवों को समान बताते हुए ऋषि कहता है - **"ओमित्येतदरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भविद्भिविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव।"**[92] अर्थात् ॐ ही सब कुछ है। यह जो भूत - भविष्य -वर्तमान है उसी की व्याख्या

---

88. श्वेताश्वतरोपनिषद्, ६/२३

89. *छा.उ.* २/१३/१

90. वही, ३/१४/१

91. वही, ३/१८/४

92. *माण्डूक्योपनिषद्*, आगम प्रकरण, प्रथम मन्त्र।

है। इसलिये यह सब ओंकार ही है। यह प्रसिद्ध पंक्ति है।[93] यह आत्मा वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ आदि स्वरुपविध पादों में निवास करता है। इसका ज्ञान परमनिष्ठ गुरु की कृपा से होता है। गुरु - शिष्य का सम्बन्ध अत्यन्त मधुर होता है। गुरु - शिष्य को सदैव नेकी के कार्यों की ओर अग्रसर करता है। प्रेम, स्नेह, एकताभाव, समता, ममत्व, ब्रह्मचर्य आदि जैसे गुणों का विकास गुरु के सानिध्य में आसानी से प्राप्त हो जाता है।

गुरु के बिना शिष्य अद्वैत तत्त्व को नहीं समझ सकता है। गुरु आत्मज्ञान हो जाने पर शिष्य के द्वैतभाव को समाप्त कर देता है।[94] इसलिये गुरु के सानिध्य में रहकर ओंकार की उपासना करनी चाहिए। गुरु के बिना शिष्य का जीवन अंधकारमय हो जाता है। वह मानव समाज के नैतिक मूल्यों का हनन करने लगता है। सर्वत्र उसे अन्धकार ही अंधकार दिखाई पड़ता है। अज्ञान की निवृत्ति केवल आत्मज्ञान से होती है।

तैत्तिरीयोपनिषद् की शिक्षावल्ली में मानवीय लोकव्यवहार और बन्धुत्व की भावना का पाठ वर्णित किया गया है। शिष्य को गुरु ही लोकव्यवहार का सच्चा पाठ पढ़ाता है। बन्धुत्व की भावना मानव की लोकाचार की प्रेरणा देती है। शिक्षावल्ली के प्रारम्भ में ही ऋषि शिष्य को सत्य बोलने का पाठ पढ़ाता है और विद्या अध्ययन की उपादेयता को स्पष्ट करता है - **"सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु तद्वक्तारमवतु। अवतु माम्। अवतु वक्तारम्। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः"।**[95] अर्थात् तुम्ही को सत्य के विषय में कहूँगा, तुम विद्यादान के द्वारा मेरी रक्षा करो तथा ब्रह्म का निरुपण करने वाले आचार्य की भी रक्षा करो। मेरी रक्षा करो। वक्ता की रक्षा करो। बुद्धि तेजयुक्त हो,

---

93. ओंङ्कार एवेदं सर्वम्।, *छा.उ.,* २/१३/३

94. *माण्डुक्योपनिषद्*, आगम प्रकरण, मन्त्र-१८, पृ. ५८२

95. *तै. उ.*, शिक्षावल्ली, प्रथम अनुवाक, प्रथम मन्त्र।

श्रवणेन्द्रिय प्रबल हो, जिह्वा मधुरभाषी हो ऐसा स्पष्ट वर्णन किया गया है।[96] यह मनुष्य के लिये अत्यन्त उपयोगी है। इनको धारण करने पर मनुष्य अपने जीवन को सानन्द जीता है।

शिक्षावल्ली के सप्तम अनुवाक लोकाचार के बिन्दुओं का स्पष्टतया प्रतिपादन किया गया है; जिसके विवेचन में कहा गया है कि - ऋत स्वाध्याय, सत्य स्वाध्याय, तप स्वाध्याय, दम स्वाध्याय, शम स्वाध्याय, अग्नि, अग्निहोत्रं स्वाध्याय आदि नित्य कर्म हैं। हमें इनकी नित्य उपासना करनी चाहिए। अतः ये स्वाध्याय और प्रवचन ही सर्वाधिक बड़ा तप है। शिक्षा के ज्ञान से मानव मस्तिष्क सदैव उत्साह से युक्त रहता है।

सामाजिक बुराईयों से दूर हटकर मनुष्य को वेदाध्ययन करना चाहिए।[97] तैत्तिरेयोपनिषद् में ऋषि स्वयं कहता है - **"सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः।"** [98]

इनका नियमों का पालन करने से चित्त सदैव प्रसन्न रहता है और मन में किसी भी प्रकार के विकारों का आगमन निषिद्ध होता है। वह सारे समाज को एकत्व भाव से देखता है। सारा संसार उसी परमतत्त्व अमूल्य रचना है। उसने कामना की और संसार बनाया - **"सोऽकामयत्। तत्सृष्ट्वातदेवानुप्राविशत्।"**[99]

---

96. वही, शिक्षावल्ली, चतुर्थ अनुवाक्, प्रथम मन्त्र।

97. "ऋतं सत्यं स्वाध्यायप्रवचने च।सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च।तपश्च च स्वाध्यायप्रवचने च। दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च। वही, शिक्षावल्ली, नवम अनुवाक, मन्त्र - १

98. वही, शिक्षावल्ली, एकादश अनुवाक, मन्त्र - ४

99. *तै. उ.*, ब्रह्मानन्दवल्ली, षष्ठ अनुवाक, प्रथम मन्त्र

अर्थात् उसने मैं बहुत हो जाऊँ ऐसी कामना की और इस संसार को रचकर उसी में प्रविष्ट हो गया। अतः देवकार्य और पितृकार्य में कभी भी प्रमाद नहीं करना चाहिए। ऋषि स्पष्ट कहता है - **"मातृदेवो भव, पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव।"**[100] हमें इनके आदेश का पालन करना चाहिए और इनकी सेवा करनी चाहिए। प्रेम, स्नेह, भ्रातृभाव पूर्वक आनन्दमय जीवन व्यतीत करना चाहिए।

बृहदारण्यकोपनिषद् में भी लोकाचार एवं नैतिक मूल्यों का प्रतिपादन किया गया है। जिनका विवेचन यहाँ बिन्दुरूप में वर्णित है।

१. आत्मा का ही दर्शन श्रवण मनन करना चाहिए। इसको करने से संसार की सभी वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है।[101]

२. मानव परमात्मा से प्रार्थना करता है - हे परमात्मन्! हमें असत्य से सत्य की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर, ओर मृत्यु से बचाकर अमरता की ओर ले चलें।[102]

३. मनुष्य जीवन में जैसा कर्म करता है उसका फल उसे भोगना पड़ता है। पाप और पुण्यकर्मों का फल मनुष्य अवश्य प्राप्त करता है।

४. महर्षि याज्ञवल्क्य ने इस संसार को ब्रह्म से ओत - प्रोत बताया है। [103]

इस प्रकार से उपनिषदों में लोकाचार की ज्ञानधारा सर्वत्र परिलक्षित होती है। जिसका सारांशभूत विवेचन किया गया है।

---

100. वही

101. आत्मा वा अरे दृष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो। *बृ. उ.*, ४/५/६

102. "असतो मा सद् गमय।तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्माऽमृतम्"। वही, १/३/२८

103. आकाश औतश्च प्रौतश्च। वही, ३/८/११

१.८ लोकाचार की वर्तमान समय में प्रासंगिकता :-

वर्तमान समय में लोकाचार प्रत्येक मनुष्य, समाज, समूह, समुदाय या राष्ट्र तथा विश्व के महत्त्वपूर्ण विषय है। वैश्विक पटल पर योगाचार के द्वारा सुदीर्घ संधियों का निर्माण होता है। लोकाचार के बिना मनुष्य का जीवन नरक के समान हो गया है। लोकाचार के अभाव में समाज में अनेकविध सामाजिक बुराईयों का पदार्पण हो रहा है। जिसमें आतंकवाद, दुराचार, व्यभिचार, भ्रष्टाचार, हिंसात्मक दंगे, धार्मिक दंगे, असमाजिक कार्य, बलात्कार, जूआ, चोरी और डकैती, अत्याचार, अपमान, दहेज प्रथा, भ्रूणहत्या आदि प्रमुख हैं।

भारतीय ज्ञान परम्परा में इन कुप्रथाओं का कोई स्थान नहीं रहा है। भारतीय संस्कृति धर्म, अध्यात्मक, ज्ञान एवं दर्शन की संस्कृति है।

इसमें सभी प्रकार की कुप्रथाओं का पूर्णतः नकारा गया है। जैसे - झूठ मत बोलो और माँस मत खाओ।[104] शराब पीना भी पाप माना गया है।[105] मनुष्य को जीवन में कभी भी अहंकार नहीं करना चाहिए। अंहकार से मनुष्य का पतन होता है।[106] जबकि वर्तमान समाज में इन बुराईयों का सर्वत्र पूर्ण अधिकार है। जनसमाज में चारों तरफ अशान्ति है। परिवारों का दिन प्रतिदिन विघटन हो रहा है। विश्वबन्धुत्व की भावना से समाज को एकत्र किया गया है। भारतीय ज्ञानपरम्परा में ऋषियों द्वारा हमें शिक्षा प्राप्त होती है - **" सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। "** [107]

---

104. *तैत्तिरीयसंहिता*, २/५/५/३२

105. *मैत्रायणी संहिता*, २/४/२

106. *श. ब्रा.*, ५/१/१०१

107. *तै. उ.*, शिक्षावल्ली, एकादश अनुवाक, मन्त्र -४

परोपकार की भावना को समाज में फैलाकर समाज को जागरुक करना अनिवार्य है। मानव जीवन में लोकाचार के नियमों का पालन करना होगा। वैदिक सम्पत्ति गुरुकुलों की रक्षा करना हमार कर्तव्य है। लोकाचार का सर्वाधिक सुदीर्घ केन्द्र गुरुकुल माना जाता है। इसमें विद्यार्थियों में संस्कारों का प्रसार होता है। हमें प्रकृति, पशु - पक्षी तथा मानव के प्रति प्रेमभाव को अपनाते हुए जीवन में आगे बढ़ना चाहिए। सच तो यह है कि - जिस भूमि को लेकर आज समाज में सभी जगह कत्ले आम हो रहा है, उसी भूमि को वैदिक ऋषि माँ की तरह पूजते थे -**"माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः।। "**[108]

समाज में इस प्रकार की लोकाचारिक भावना को सर्वत्र फैलाना हमारा कर्तव्य है। वैदिक जीवन शैली को आत्मसात् करते हुए जीवन में लोकाचार को अपनाना ही हमारा परम लक्ष्य होना चाहिए और सुखी जीवन जीना चाहिए। ऋग्वेद में स्पष्ट कहा गया है यज्ञ ही मनुष्य का श्रेष्ठतम कर्म है।[109] यज्ञ के सम्पादन से मनुष्य के समस्त पाप स्वतः धुल जाते हैं और जीवन में नूतन धार्मिक विचारों का आगमन होता है।

इसलिए वैदिक साहित्य में वर्णित सत्य, एकता, बन्धुत्व, प्रेम, संयम, सदाचार और सामाजिक नैतिक मूल्यों को जीवन में धारण करना चाहिए । मनुष्य को सदैव अपने कर्तव्य के प्रति कर्मठ रहना चाहिए। आचार्य चाणक्य ने भी लोकाचार के सन्दर्भ में कहा है -

" उद्योगे नास्ति दारिद्रयं जपतो नास्ति तापकम्।

मौनेन कलहो नास्ति,नास्ति जागरितो भयम्॥ "[110]

---

108. *अथर्व.* १२/१/९२

109. यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म। *श. ब्रा.*१/७/१/५

110. *चाणक्य नीति*, अध्याय-तीन, श्लोक -११

अतः मानव को सदैव मिलकर जीवन जीना चाहिए। दूसरों से द्वेष करना, चोरी करना और गाली देना पाप है। इसका भागीदार नहीं बनें, अपितु संस्कारी बातों को जीवन में धारण करें और जीवन को आनन्दमय बनाएं।

॥ इति प्रथम - अध्याय ॥

द्वितीय अध्याय

ब्रह्मचर्य आश्रम में लोकाचार

द्वितीय अध्याय

ब्रह्मचर्य आश्रम में लोकाचार

आश्रम शब्द का सामान्य अर्थ है - श्रम अर्थात् मेहनत का जीवन। **आश्रम्यन्ति अस्मिन् आश्रमः।** मानवजीवन को सुव्यवस्थित ढंग से चलाने तथा जीवन के आदर्श, नैतिक मूल्यों को समाज में रखने के साथ उचित समयानुसार मानव को उसके कर्तव्यों से बोध कराने का कार्य आश्रम व्यवस्था कराती है।

धर्मसूत्र काल तक आश्रम व्यवस्था के होने के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। नाम तथा क्रम व्यवस्था में भले ही कुछ हेर फेर हो किन्तु इस बात से मना नहीं किया जा सकता कि उस समय आश्रम नहीं थे। धर्मशास्त्रों के अनुसार मानव जीवन को चार भागों में विभक्त किया गया है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास। गौतम धर्मसूत्रकार ने इनको निम्न नाम से गिनाया है - ब्रह्मचारी, गृहस्थ, भिक्षु तथा वैखानस।[111]

यहाँ भिक्षु का संन्यास तथा वैखानस का वानप्रस्थ से तात्पर्य है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में भी चार आश्रमों का वर्णन मिलता है। ये चार आश्रम हैं - गार्हस्थ्य, आचार्यकुल (आचार्य के कुल में निवास अर्थात् ब्रह्मचर्य आश्रम), मौन (संन्यास आश्रम) तथा वानप्रस्थ।[112] बौधायन धर्मसूत्र में आश्रमों के ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा परिव्राजक नाम मिलते हैं।[113] यहाँ परिव्राजक शब्द से अभिप्राय संन्यास आश्रम से है।

---

111. ब्रह्मचारी गृहस्थो भिक्षुर्वैखानसः।, *गौ. ध.* १/३/२

112. चत्वार आश्रमा गार्हस्थ्यम्, आचार्यकुलं, मौनं, वानप्रस्थ्यमिति।, *आप. ध.* २/९/२१/१

113. ब्रह्मचारी गृहस्थो वानप्रस्थः परिव्राजक इति।, *बौधा. ध.* २/६/११/१४

बौधायन धर्मसूत्रकार की भाँति वसिष्ठ धर्मसूत्र में भी चार आश्रमों को ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा परिव्राजक के नाम से विभक्त किया गया है।[114]

आश्रम व्यवस्था के महत्त्व को बताते हुए कहा गया है कि जो व्यक्ति इन सभी आश्रमों को शास्त्र के अनुसार विघ्न बाधाओं से विचलित न होते हुए निवास करता है उस को क्षेम (मोक्ष) तथा अभय पद की प्राप्ति होती है।[115]

महाभारत में व्यक्ति की आयु को चार भागों में विभक्त किया है।[116] संस्कृत वाङ्मय में व्यक्ति के सौ वर्ष तक जीने की कामना की गयी है। **'जीवेत् शरदः शतम्।', ' शतायु भव। '**

इस सौ वर्ष की आयु को चार भागों में विभक्त करके प्रत्येक आश्रम के लिए २५ - २५ वर्षों की कल्पना की गयी है। साहित्य में इन आश्रमों का विधिवत् पालन न करने वालों के लिए कहा गया है कि -

" आद्ये वयसि नाधितं, द्वितीये नार्जितं धनम्।

तृतीये न तपस्तप्तं, चतुर्थे किं करिष्यसि ?॥ "

अर्थात् जीवन के प्रथम आश्रम, ब्रह्मचर्य आश्रम में रहकर जिसने सम्यक् प्रकार से अध्ययन नहीं किया और द्वितीय आयु गृहस्थ आश्रम में रहकर सम्यक् प्रकार से धन न अर्जित करके अपने कर्तव्यों का पालन जिसने नहीं किया तथा तृतीय आयु वानप्रस्थ आश्रम में रहकर तप भी नहीं किया वह चतुर्थ आयु संन्यास आश्रम में क्या करेगा अर्थात् उस व्यक्ति का जीवन व्यर्थ है। अतः सार्थक जीवन के लिए आश्रम व्यवस्था का अनुकरण करना चाहिए।

---

114. चत्वार आश्रमाः।, ब्रह्मचारिगृहस्थवानप्रस्थपरिव्राजकाः। *वसि. ध.* ७/१-२

115. तेषु सर्वेषु यथोपदेमव्यग्रो वर्तमानः क्षेमं गच्छति। *आप. ध.* २/९/१०

116. आयुषस्तु चतुर्भागं।, *महाभारत,* १२/२४२/१६

धर्मसूत्रों में आश्रम को चार भागों में इस प्रकार विभक्त किया है –

- *गौतम धर्मसूत्र* के अनुसार - ब्रह्मचारी, गृहस्थ, भिक्षु तथा वैखानस आश्रम।
- *आपस्तम्ब धर्मसूत्र* के अनुसार - गार्हस्थ्य, आचार्यकुल, मौन, तथा वानप्रस्थ आश्रम।
- *बौधायन धर्मसूत्र* के अनुसार - ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा परिव्राजक आश्रम।
- *वसिष्ठ धर्मसूत्र* के अनुसार - ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा परिव्राजक आश्रम।

जीवन को आश्रम रूपी चार भागों में विभक्त करके धर्मसूत्रकारों ने उत्तम और सरल जीवन यापन करने का मार्ग दिखाया। ये आश्रम सोपान की भाँति हैं। प्रस्तुत अध्याय में जीवन के उसी प्रथम सोपान **ब्रह्मचर्य आश्रम** में वर्णित लोकाचार को प्रस्तुत किया जा रहा है।

२.१ ब्रह्मचर्य आश्रम का प्रमुख आधार :-

शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक विकास हेतु समस्त भौतिक सुख साधनों से दूर रहकर अनुशासन पूर्वक मनुष्य ने जिस आश्रम की कल्पना की वह है ब्रह्मचर्य आश्रम। ये आश्रम जहाँ एक और गृहस्थाश्रम की आधारभूमि तैयार करता है वहीं कठोर नियमों, अध्ययन तथा अनुशासन में रहना भी सिखाता है।

ब्रह्मचर्य शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है - ब्रह्म + चर्य। ब्रह्म का अर्थ है महान् तथा चर्य का अर्थ है - विचरण करना। अर्थात् ब्रह्म के मार्ग पर चलना। प्रायः ब्रह्मचर्य का अर्थ इन्द्रिय संयम या वेदाध्ययन के लिए किये जाने वाले व्रतों से लिया जाता है। इस प्रकार नियम, संयम का पालन करते हुए वेदादि का अध्ययन करना बह्मचारी का कर्तव्य माना जाता था। भारतीय संस्कृति की आश्रम व्यवस्था में ब्रह्मचर्य आश्रम का महत्त्वपूर्ण स्थान माना जाता है। यह आश्रम लोकाचार एवं नैतिक

व्यवहार के नियमों में बंधा हुआ होता है। इसमें वर्णित प्रमुख आधार बिन्दुओं का वर्णन यहाँ किया गया है। सर्वप्रथम वर्ण संरचना को समझने का प्रयास करते हैं।

२.१.१ वर्ण व्यवस्था :-

यद्यपि यह विषय विवादास्पद है। तथापि ऐसा माना जाता है कि वर्ण व्यवस्था के विषय कर्म को आधार मानते हुए सर्वप्रथम *ऋग्वेद* के पुरुष सूक्त में वर्णन मिलता है। यहाँ

मन्त्र में कहा गया है कि -

" ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहु राजन्यः कृतः।

ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोजायत॥ "[117]

अर्थात् ऋग्वेद में ऋषियों द्वारा जिस विराट पुरुष की कल्पना की गयी है उससे सबसे पहले मुख से ब्राह्मण, उसके बाद भुजाओं से क्षत्रिय, जांघों से वैश्य तथा अन्त में पैरों से शूद्रों की उत्पत्ति को बतलाया गया है। यही मन्त्र वर्ण व्यवस्था का आधार बनता है। यहाँ पर यह भी ध्यातव्य है कि सामूहिक रूप से चारों वर्णों का वर्णन इसी सूक्त में प्राप्त होता है और विद्वानों ने पुरुष सूक्त को बाद की रचना माना है।

वर्ण शब्द के विषय में यास्काचार्य का मत है कि – **"वर्णो वृणोतेः।"**[118] अर्थात् वरण कर लेना या चुन लेना। वर्णों को चार भागों में विभक्त किया गया; ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र।[119] इसी प्रकार बौधायन व वसिष्ठ धर्मसूत्र में भी वर्ण व्यवस्था का उल्लेख मिलता है।[120]

---

117. *ऋ.*, १०/९०/१२

118. *निरुक्त,* २/१

119. चत्वारो वर्णा ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राः। *आप. ध.*, १/१/४

120. *बौधा. ध.* १/८/१, *वसि. ध.*, २.१

उपनयन केवल द्विजातियों का ही होता था शूद्रों का नहीं तथा द्विजातियों के तीन कर्म कहे गये हैं; अध्ययन, यजन और दान।[121]

वर्ण व्यवस्था वर्तमान समय में अत्यन्त विवादित प्रश्न है। वर्ण विधान को देखने के दो दृष्टिकोण हैं। एक सामाजिक दृष्टिकोण, जिसमें समाज में अवधारणा बन चुकी है कि - जो जिस वर्ण में पैदा होता है उसका वही वर्ण जन्म से होता है। यह वर्ण व्यवस्था जन्म के आधार पर होती है जैसे ब्राह्मण का बेटा जन्म लेते ही ब्राह्मण ही कहा जाएगा। वर्तमान में समाज में इसी धारणा को बल मिला हुआ है।

दूसरा दृष्टिकोण जिसमें वर्ण का निर्धारण जन्म के आधार को न मान कर उसके कर्म, गुण और स्वभाव से मानता है। वेदों तथा धर्मसूत्रों में कर्म के आधार पर ही वर्ण निर्धारण करने के पर्याप्त स्पष्ट संकेत मिलते हैं। यथा - उपनीत शिष्य को आचार्य तीन रात्रि गर्भ में रखकर उसका वर्ण निर्धारित करता था।

२.१.२ आचार्य द्वारा वर्ण निर्धारण :-

उपनयन के माध्यम से आचार्य के सानिध्य में आये ब्रह्मचारी का आचार्य निरीक्षण कर वर्ण निर्धारण करता था। वर्ण निर्धारण के विषय में अथर्ववेद में कहा गया है कि -

"आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।

तं रात्रिस्त्रिस्रः उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवा॥"[122]

अर्थात् आचार्य ब्रह्मचारी का उपनयन संस्कार करके अपने ज्ञान रूपी गर्भ अर्थात् अपने निरीक्षण में तब तक रखता है जब तक तीन प्रकार के अन्धकार (तीन रात्रि) भावना, विचारणा तथा अज्ञान का निवारण नहीं हो जाता।

---

121. द्विजातीनामध्ययनमिज्या दानम्।, *गौ. ध.* २/१/१

122. *अथर्व.* ,११/७/३

अथर्ववेद में ही उपरोक्त वर्णित तीन रात्रियों के निवारण हेतु ब्रह्मचारी को कहा गया है कि -

"इयं समित् पृथिवी धौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति।

ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति॥"[123]

ब्रह्मचारी समिधा, मेखला, श्रम और तप द्वारा ब्रह्मचर्य का पोषण करता है। उसकी पहली समिधा पृथ्वी है। दूसरी द्युलोक है तथा तीसरी अन्तरिक्ष है। अर्थात् समिधा ही अग्नि को धारण करती है तथा मेखला मर्यादित करने का कार्य करती है। श्रम स्थूल पुरुषार्थ का और तप सूक्ष्म पुरुषार्थ का प्रतीक है। प्रथम स्थूल ब्रह्मचर्य का अभ्यास किया जाता है। दूसरी समिधा अर्थात् विचारों को ब्रह्मानुशासन में लाना तथा तृतीय समिधा भावों को ब्रह्ममय बनाना। इन तीनों समिधा से (तीन रात्रि) अशक्ति, अज्ञान तथा अभाव का निराकरण।

वसिष्ठ के अनुसार -

" त्रयो वर्णा द्विजातयो ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्याः। तेषां मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जीबन्धने। तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते। वेद प्रदानात् पितेत्याचार्यमाचक्षते। "[124]

अर्थात् इस व्यवस्था में ब्रह्मचारी का द्वितीय जन्म होता था जहाँ सावित्री उसकी माता और पिता आचार्य होता था। द्वितीय जन्म होने के कारण उसे द्विज कहा जाता था। पहला जन्म माँ के गर्भ से तथा द्वितीय मौञ्जी बन्धन से।

इस प्रक्रिया में उपनीत ब्रह्मचारी अपना तीन वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) में से किसी एक को चुनता है और द्वितीय जन्म पाता है। किन्तु जो इनमें से किसी भी

---

123. *अथर्व.*, ११/७/४

124. *वसि. ध.* २/२-५

वर्ण का वरण नहीं कर पाता वह एक जन्मा रह जाता है। इसी को चौथा वर्ण शूद्र एक जाति कहा गया है। **शूद्रश्चतुर्थो वर्णः एकजातिः।**[125]

यहाँ पर स्पष्ट यह भी कहा गया है कि धर्म का आचरण कर व्यक्ति पूर्व पूर्व वर्ण को प्राप्त कर सकता है अर्थात् धर्म का आचरण कर वैश्य भी ब्राह्मणत्व को प्राप्त कर सकता है;[126] तथा जो मनुष्य अधर्म का आचरण करता है वह निम्न वर्ण को प्राप्त करता है जैसे ब्राह्मण पतित कर्म कर शूद्रत्व को प्राप्त करता है।[127]

धर्मसूत्रकारों ने माता - पिता द्वारा शारीरिक जन्म की अपेक्षा विद्या द्वारा लिये गये द्वितीय जन्म को श्रेष्ठ माना है -

" माता पितरौ त्वस्य शरीरमेव जनयतः। सही विद्यातस्तं जनयति तच्छ्रेष्ठं जन्म। "

वस्तुतः आचार्य तीन रात्रि में ब्रह्मचारी का निरीक्षण कर उसका वर्ण निर्धारित करता था। वेदों के पठन - पाठन में रुचि लेने वाले का वर्ण ब्राह्मण, युद्ध में रुचि लेने वाले का वर्ण क्षत्रिय, व्यापार के क्षेत्र में अभिमुख होने वाले का वर्ण वैश्य तथा अन्त में जो सेवा के भाव से आश्रम के कामों में सेवा करता था उसे शूद्र वर्ण देकर चार वर्णों का विधान कर्म व गुण के आधार पर किया जाता था।

धर्मसूत्रकार ने भी चार वर्ण कहें हैं - ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र।[128] इनमें पूर्ववर्ती वर्ण को अपने बाद वाले वर्ण से जन्म से श्रेठ माना है।[129] धर्मसूत्र काल में वर्ण का विधान आचार्य गुण, कर्म तथा स्वभाव के आधार पर करता था।

---

125. *गौ. ध.* २/१/५१

126. धर्मचर्यया जघन्य वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ। *आप. ध.* २/५/११/१०

127. अधर्मचर्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ। वही, २/५/११/११

128. चत्वारों वर्णा ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राः। *आप. ध.* १/१/१/४

129. तेषां पूर्वं पूर्वो जन्मतश्श्रेयान्। *आप. ध.* १/१/१/५

आपस्तम्ब धर्मसूत्र के मतानुसार धर्म के मार्ग पर चलने वाला निम्न वर्ण में उत्पन्न होकर भी उच्च वर्ण का हो जाता है; और अधर्म का व्यवहार करने वाले उच्च वर्ण के मनुष्य को निम्न वर्ण में स्थान मिलता है।[130] शूद्र वर्ण के लिए अन्य तीन वर्णों की सेवा करना ही धर्म कहा गया है। यह सेवा करने का पुण्यफल भी वर्ण क्रमशः से बढ़ता रहता है अर्थात् वैश्य की सेवा से अधिक पुण्य क्षत्रिय की सेवा करने से प्राप्त होता है तथा क्षत्रिय की सेवा से अधिक पुण्य ब्राह्मण सेवा से मिलता है।[131] वर्ण विधान का आधार जन्म से हो या गुण - कर्म से, ये एक विवादित प्रश्न है।

२.१.३ ब्रह्मचर्य आश्रम का ब्रह्मचारी :-

मानव जीवन में ब्रह्मचर्य आश्रम का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ब्रह्मचर्य शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है ब्रह्म तथा चर्य। 'ब्रह्म' अर्थात् ज्ञान, ब्राह्मण, वेद, ईश्वर आदि तथा 'चर्य' से अभिप्राय अध्ययन, रक्षण तथा चिन्तन; योग में इसका अर्थ वीर्य रक्षण से है। इस प्रकार इस शब्द की भिन्न - भिन्न स्थानों पर अलग - अलग व्याख्या उपलब्ध होती है। सामान्यतः ब्रह्मचर्य शब्द से अभिप्राय वेदाध्ययन, ईश्वर चिन्तन तथा वीर्य रक्षण से है। ये तीनों अर्थ वैदिक साहित्य में देखने को मिलते हैं।

प्रायः ब्रह्मचारी शब्द से अभिप्राय वेदों के अध्ययन हेतु व्रत करने वाला तथा इन्द्रियों के नियन्त्रण कर्ता से लिया जाता है।[132] धर्मसूत्र काल में ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवेश हेतु उपनयन संस्कार अनिवार्य समझा जाता था। उपनयन संस्कार के उपरान्त ही बालक को ब्रह्मविद्या का अधिकारी माना गया है।

इस आश्रम में बालकों को उसके माता - पिता उपनयन संस्कार के लिए गुरु के समीप ले जाकर उसको अपना शिष्य बनाने की प्रार्थना करते थे।

---

130. *आप. ध.* २/५/११/१०-११

131. शुश्रूषा शूद्रस्येतरेषां वर्णानाम्। पूर्वेस्मिन् पूर्वेस्मिन् वर्णे निश्श्रेयसं भूयः।, *आप. ध.* १/१/७-८

132. तदध्ययनार्थ व्रतमुपचाराद् ब्रह्म। ब्रह्म चरितुं शीलमस्य। *अमरकोश*

बालक को शिक्षा के लिए गुरु के समीप गुरुकुल में ले जाकर छोड़ना और गुरु के द्वारा उसे यज्ञोपवीत की दीक्षा देना उपनयन संस्कार है। उपनयन करने तथा वेदाध्ययन कराने वाले को आचार्य कहा गया है।[133]आचार्य भी शिष्य को उसके गुण, कर्म स्वभाव के अनुसार शिक्षित करता था। शिष्य गुरु से जीवन की अनमोल शिक्षा को प्राप्त करता है।

इस प्रकार ब्रह्मचर्य आश्रम मानव के भावी जीवन की रूपरेखा को भी तैयार करता है। इस आश्रम में रहते हुए मनुष्य भौतिक जगत के सुख साधनों का त्याग कर अनुशासित रहते हुए अपनी शक्तियों को संग्रहित करता है।

यही आश्रम जीवन में अन्य आश्रमों के लिए आधार शिला का कार्य भी करता है। इस आश्रम प्रवेश में उपनयन संस्कार एक आवश्यक क्रम है। उपनयन के समय से गुरुकुल में निवास का कर्तव्य सभी वर्णों के लिए समान रूप से होता है अर्थात् ४८ वर्षों तक वेदाध्ययन का जो समय कहा गया है वो सबके लिए समान है।[134] साथ ही विद्या का परित्याग न करना भी सभी वर्णों के ब्रह्मचारियों का कर्तव्य है।[135]

ब्रह्मचर्य की महिमा के विषय में अथर्ववेद में मिलता है कि इस ब्रह्मचर्य के तप से देवताओं ने मृत्यु पर भी विजय प्राप्त कर ली तथा इसी के कारण इन्द्र को देवताओं में उच्चासन मिला।

"ब्रह्मचर्येण तपसा, देवा मृत्युमुपाघ्नत।

इन्द्रोह ब्रह्मचर्येण, देवेभ्यः स्वराभरत्॥"[136]

---

133. तद्यस्मात्स आचार्यः। वेदानुवचनाच्च। *गौ. ध.* १/१/१०-११

134. सर्वेषामुपनयनप्रभृति समान आचार्य कुले वासः। *आप. ध.* २/९/३

135. सर्वेषामनूत्सर्गो विद्यायाः। *आप. ध.* २/९/४

136. *अथर्ववेद* में वर्णित

२.१.४ उपनयन संस्कार :-

उपनयन का शाब्दिक अर्थ है कि - **"कुमारस्य आचार्यसमीपनयनमस्मिन् कर्मणि"** अर्थात् वह कर्म जिसमें बालक को शिक्षा हेतु गुरु के समीप छोड़ना और गुरु के द्वारा उसे यज्ञोपवीत की दीक्षा देना। इस प्रकार कृत्य को उपनयन संस्कार कहते हैं।

आपस्तम्ब में यह भी स्पष्ट कहा गया है कि प्रत्येक वेद के लिए अलग - अलग उपनयन की आवश्यकता नहीं है। एक ही बार गायत्री मन्त्र के ग्रहण से सभी वेदों का अध्ययन किया जा सकता है।[137]

ब्रह्मचारी का इस संस्कार के माध्यम से दूसरा जन्म होता था इसलिए उपनीत ब्रह्मचारी को द्विज भी कहते थे। दो जन्म से अभिप्राय यह था कि एक जन्म माता के गर्भ से तथा दूसरा उपनयन के बाद गुरु के गर्भ से, इस विषय में विष्णु धर्मसूत्रकार का मत है कि - द्वितीय जन्म में सावित्री (विद्या) उसकी माता और उसका पिता आचार्य होता था।[138] इसके अतिरिक्त द्विज से अभिप्राय दो जन्मों से है एक जन्म माता के गर्भ से तथा द्वितीय जन्म ज्ञान प्राप्त कर गुरु के गर्भ से होता था।[139] अथर्ववेद के अनुसार उपनयन से द्वितीय जन्म जो प्राप्त करता है। उस को देखने के लिए देवगण एकत्रित होते हैं।[140] अथर्ववेद में उपनीत शिष्य के लिए ब्रह्मचारी शब्द का प्रयोग हुआ है।[141] सूत्रकाल में भी विद्यार्थी द्वारा ब्रह्मचर्य के लिए प्रार्थना और आचार्य द्वारा उसकी स्वीकृति ही इस संस्कार का मुख्य केन्द्र बिन्दु था।[142]

---

137. सर्वेभ्यो वैवेदेभ्यस्सावित्र्यनूच्यत इति हि ब्राह्मंणम्। *आप.ध.* १/१/१०

138. तत्रास्य माता सावित्री भवति पिता त्वाचार्यः। *वि. ध.* २८/३८

139. तद्वितीयं जन्म। *गौ. ध.* १/१/९

140. " आचार्य उपनीयमानं ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भनन्तः। तं रात्रीस्त्रिस्रः उदरे विभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसयन्ति देवाः। " *अथर्व.,* ११/५/३

141. उपनयनमानो ब्रह्मचारिणम्। अथर्व..११/५/३

142. *हिन्दु धर्म के सोलह संस्कार,* पृ.८७

समाज के विकास के लिए यह आवश्यक अंग है। इस प्रकार उपनयन होने के पश्चात् वेदाध्ययन का अधिकारी वह बालक आचार्य के सानिध्य में ब्रह्मचारी बनकर वेदाध्ययन करते हुए सर्वाङ्गीण विकास को प्राप्त करता है।

परम तत्त्व को जाने वाला मार्ग कदाचित् ब्रह्मचर्य आश्रम से ही होकर जाता है इसलिए तो *यजुर्वेद* में कहा गया है कि वही वीर्य है, वही ईश्वर है, वही जीवन है और इस सृष्टि का रचनाकार भी है।[143]

विष्णु धर्मसूत्रकार के अनुसार मौञ्जी आदि के बान्धने से पहले द्विज बालक शूद्र के समान होता है।[144] बौधायन के अनुसार भी मौञ्जीबन्धन अर्थात् उपनयन संस्कार से पहले धर्माचार्य बालक के कर्मों पर कोई बन्धन नहीं रखते। जब तक उसका जन्म वेद के माध्यम से नहीं होता है तब तक उसका आचरण शूद्र के समान माना गया है।[145] मनुस्मृतिकार के मत में भी जब तक द्विजातियों का उपनयन नहीं होता वे शूद्र के समान होते हैं।[146] इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति जन्म से शूद्र तथा उपनयन संस्कार के बाद द्विज कहलाता है।

गौतम के अनुसार चार वर्णों में होते हुए भी शूद्र का उपनयन नहीं होता था क्योंकि वह एकजाति कहलाता था द्विजाति नहीं।[147] उपनयन केवल द्विजाति का ही होता था। शूद्र का निर्माण किसी भी छन्द से नहीं हुआ है इसलिए वह संस्कार के अयोग्य कहा गया है।[148]

---

143. " तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म, ता आपः स प्रजापतिः।" *यजु.*

144. प्राङ् मौञ्जीबन्धनात् द्विजः शूद्रसमो भवति। *वि. ध.* २८/४०

145. नाऽस्य कर्म नियच्छन्ति किञ्चिदा मौञ्जिबन्धनात्। वृत्या शुद्रसमो ह्येष यावद्वेदेषु जायत इति। *बौधा. ध.* १/२/३/७

146. शूद्रेण हि समस्तावद्यावद्वेदे न जायते। *मनु.* २/१७२

147. शूद्रश्चतुर्थो वर्ण एकजातिः। *गौ. ध.* २/१/५१

148. गायत्र्या ब्राह्मणमसृजत त्रिष्टुभा राजन्यं जगत्या वैश्यं न केनचिच्छन्दसा शूद्रमित्यसंस्कारो विज्ञायते।

धर्मसूत्रों में ब्रह्मचारी द्वारा धारण किये जाने वाले वस्त्र, मेखला, दण्ड आदि का वर्णों के साथ भिन्न - भिन्न वर्णन मिलता है अर्थात् यह बतलाया गया है कि किस वर्ण के ब्रह्मचारी को कैसी मेखला, दण्ड या वस्त्र को धारण करना चाहिए साथ ही उनके उपनयन की आयु, ऋतु तथा मन्त्र आदि का भी अलग - अलग प्रकार है।

आपस्तम्ब के अनुसार " **उपनयनं विद्यार्थस्थ श्रुतितस्संस्कारः** "[149] अर्थात् विद्या ग्रहण करने के प्रयोजन वाले का वेद के नियम के अनुसार किया जाने वाला संस्कार उपनयन संस्कार है। विद्यार्थ में पुलिङ्ग होने से स्त्रियों के लिए यह संस्कार नहीं है।[150] फिर भी **'अग्ने गृहपते'**[151] आदि से स्त्री के लिए विद्या का ग्रहण कर लिया गया। वेदों में स्त्री शिक्षा के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। विद्यार्थ में ' विद्या अर्थः प्रयोजनं यस्य सः ' कहने से गूँगे आदि के लिए उपनयन नहीं होता था। अथर्ववेद में ब्रह्मचर्य का पालन करने वाली कन्या के विषय में भी वर्णन मिलता है कि -**"ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।"**[152]

अर्थात् ब्रह्मचर्य का पालन करने के पश्चात् कन्या अपने योग्य युवक को प्राप्त करती है तथा वैदिक साहित्य में घोषा[153], विश्वावरा, सूर्या, लोपामुद्रा, इन्द्राणी, गार्गी, मैत्रेयी तथा अरुन्धती आदि वेद जानने वाली विदुषीयों के प्रमाण सहज उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि महिलाएँ भी वेद पढ़ने का अधिकार रखती थी। आधुनिक युग में महिलाएँ न केवल हेतु गुरुकुलों में रह कर वेदाध्यन आदि कर रही हैं अपितु विविध विषयों का ज्ञान भी प्राप्त कर रही हैं।

वसि. ध. ४/३

149. *आप. ध.* १/१/९, पृ. ६

150. विद्यार्थस्येत्यत्र पुंलिङ्गस्य विवक्षितत्वात् इत्यर्थः।

151. *तै. सं.*१/५/६

152. *अथर्व.* में वर्णित

153. *ऋ.,* १०/३९-४०

स्त्रियाँ पढ़ने की अधिकारिणी नहीं हैं, ये व्यवहार जिस समाज के अंग में प्रचलित है अथवा जिस काल या स्थान विशेष में रहा हैं। वह केवल और केवल उस समाज की मानसिक विकृति का ही परिणाम है जो उसे ढोल, गवार, शूद्र और पशु के समान मानकर अपमानित और शिक्षा से वञ्चित करता है। अन्यथा हमारे धर्मग्रन्थों में तो नारी को पूजनीय माना है। जहाँ नारी का सम्मान होता है वहाँ देवताओं का निवास होता है।[154] आधुनिक युग में स्त्रियों ने शिक्षा के माध्यम से भिन्न - भिन्न क्षेत्र में अपनी उपस्थिति दर्ज करायी है।

२.१.५ आयु विमर्श :-

उपनयन संस्कार की आयु सीमा का सभी वर्णों के लिए कोई एक निश्चित निर्धारण नहीं प्राप्त होता है अपितु भिन्न - भिन्न वर्णों के लिए भिन्न - भिन्न आयु सीमा निर्धारित है। धर्मशास्त्रों के अनुसार ब्राह्मण का उपनयन संस्कार ८ वर्ष की आयु में[155], क्षत्रिय का ११ वर्ष की आयु में तथा वैश्य का १२ वर्ष की आयु में होना चाहिए।[156]

उपनयन के लिए इन वर्षों की गणना जन्म काल से न होकर गर्भकाल से ही होती थी।[157] विशेष उद्देश्य की प्राप्ति हेतु विशेष काल में उपनयन संस्कार करने का वर्णन भी यहाँ प्राप्त होता है। तेज अथवा पौरुष की कामना करने वाला ब्राह्मण इच्छानुसार ९ या ५ वर्ष की आयु में उपनयन संस्कार करना चाहिए। इसी प्रकार

---

154. यत्र तु नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः। यत्रैतास्तु नपूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥ मनु. ३/५६

155. उपनयन ब्राह्मस्याष्टमे। *गौ.ध.* १/१/६

156. एकादशद्वादशयोः क्षत्रियवैश्योः। *गौ.ध.* १/१/१२

157. गर्भादिः संख्या वर्षाणाम्। वही, १/१/८

ब्राह्मण का १६ वर्ष, क्षत्रिय का २२ वर्ष तथा वैश्य का२४ वर्ष की आयु में उपनयन है।[158]

ब्रह्मचारी की उपनयन संस्कार करने में आयु भिन्न - भिन्न होने के कारण ब्रह्मचर्य आश्रम की समय सीमा भी भिन्न - भिन्न हो गयी जिसका प्रभाव गृहस्थ आश्रम पर होता है। परिणाम स्वरूप गृहस्थ आश्रम में प्रवेश का समय भेद हो जाता है।

२.१.६ ऋतु, काल एवं मन्त्र विधान :-

जिस प्रकार उपनयन में आयु सीमा का निर्धारण समान नहीं था, वैसे ही उपनयन संस्कार हेतु वर्णों की ऋतुएँ भी भिन्न - भिन्न थी। ब्राह्मण बालक का जहाँ उपनयन वसंत ऋतु में किया जाता था, वहीं क्षत्रिय और वैश्य का ग्रीष्म तथा शरद ऋतु में क्रमशः होता था। इसी तरह ऋतु के साथ - साथ उपनयन के मन्त्र भी अलग - अलग थे। ब्राह्मण बालक के लिए गायत्री मन्त्र, क्षत्रिय के लिए त्रिष्टुप् मन्त्र तथा वैश्य के लिए जगती मन्त्र का विधान किया गया था।[159] यहाँ बौधायन के कथन से स्पष्ट होता है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य का उपनयन संस्कार पृथक् - पृथक् ऋतु में तथा पृथक् - पृथक् मन्त्रों के साथ होता है। उपनयन से पूर्व ही उनका वर्ण निर्धारित होता है।

२.२ ब्रह्मचारी का स्वरूप :-

ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवेश करने पर यज्ञोपवीत के उपरान्त ब्रह्मचारी का गुरु तथा सावित्री (विद्या) के माध्यम से द्वितीय जन्म होता था। जिसके कारण उसे द्विज भी कहा जाता था। नये परिवेश में ब्रह्मचारी का पहनावा, खान - पान, आचार -

---

158. उपनयनं ब्राह्मणस्याष्टमे। नवमे पञ्चमे वा काम्यम्। गर्भादि संख्या वर्षाणाम्। तद् द्वितीयं जन्म। एकादशद्वादशयोः क्षत्रियवैश्ययोः। आ षोडशाद् ब्राह्मणस्यापतिता सावित्री। द्वाविंशते राजन्यस्य द्वयधिकाया वैश्यस्य। वही, १/१/६-९,१२-१४

159. गायत्रीत्रिष्टुब्जगतीभिर्यथाक्रमम्।, *बौधा.ध.* १/२/३/१२

व्यवहार में परिवर्तन होता था। ब्रह्मचारी का स्वरूप समाज में बहुत ही सम्मान के साथ ग्रहणीय माना गया है। उसके सभी पहलुओं पर आचार्य ध्यान देकर उसको विद्या प्रदान करते हुए समाज में स्थापित करता था। इसके लिए ब्रह्मचारी का पहनावा, ब्रह्मचर्य के नियम, सत्यवादी होना, स्वाध्यायी होना, धार्मिक होना आदि अनिवार्य था। जीवन ब्रह्मचर्य आश्रम में निर्देशित नियमों में बँध जाता था। ब्रह्मचर्य आश्रम की कठोर तपस्या करने वाले ब्रह्मचारी का क्या स्वरूप था उस स्वरूप का वर्णन यहाँ किया जा रहा है।

२.२.१ ब्रह्मचारी परिधान आचार :-

धर्मसूत्रों में ब्रह्मचारी द्वारा धारण किये जाने वाले वस्त्र, मेखला, दण्ड आदि का वर्णों के साथ वर्णन मिलता है अर्थात् यह बतलाया गया है कि किस वर्ण के ब्रह्मचारी को किस प्रकार की मेखला, दण्ड या वस्त्र को धारण करना चाहिए। इन मेखलाओं का चयन गुण - कर्म तथा स्वभाव के आधार पर किया जाता था।

प्रायः धर्मसूत्रीय काल में ब्रह्मचारियों के वस्त्र अधोवस्त्र, उत्तरीयवस्त्र, कम्बल तथा कौपीन धारण करने का विधान है।[160] आपस्तम्ब के अनुसार ब्राह्मण ब्रह्मचारी अपने अधोवस्त्र को न तो सोने के लिए और न ही बैठने के लिए भूमि पर रख सकता था। साथ ही ब्रह्मचारी को ब्रह्मशक्ति की वृद्धि करनी है तो परिधान में उसे केवल अधोवस्त्र का ही प्रयोग कहा गया है।[161] आश्रम में ब्राह्मण ब्रह्मचारी के लिए कषाय रंग का रंगा हुआ कौपीन पहनेगा। जबकि क्षत्रिय और वैश्य वर्ण के ब्रह्मचारियों के लिए क्रमशः मंजीठी और हल्दी से रंगा होना चाहिए।[162]

---

160. अन्तर्वास्युत्तरीयवान।, *आप. ध.* १/३/५/२

161. *आप. ध.* १/१/३/४

162. *गौ. ध.* १/१/२०

वस्तुतः इस प्रकार की व्यवस्था का कारण गुरुकुल में अनुशासन व्यवस्था को बनाना रहा होगा। आधुनिक युग में भी परिधान ही सामान्यतः निर्धारण करते हैं कि ये वकील है, पुलिस है, चिकित्सक है या अन्य कोई। लेकिन आज के परिप्रेक्ष्य में विद्यालय में सभी विद्यार्थियों का परिधान सामान्यतः एक ही होता है किन्तु संस्थागत व्यवसाय में आने पर संस्था निर्देशित परिधानों का पालन होता है।

२.२.२ ब्रह्मचारी द्वारा दण्ड रखना :-

आचार्य ब्रह्मचारी को को दण्ड धारण कराता था। पशुओं से रक्षा के लिए दण्ड रखना आवश्यक था। गौतम के अनुसार वर्णों के आधार पर भिन्न - भिन्न दण्ड रखना चाहिए।

ब्राह्मण ब्रह्मचारी पलाश का दण्ड धारण करें, पलाश के दण्ड के साथ - साथ बिल्ब दण्ड को भी सही कहा गया। वट वृक्ष का दण्ड क्षत्रिय ब्रह्मचारी धारण करें। वैश्य ब्रह्मचारी पीलू का दण्ड ग्रहण करें।[163] इन सब के अतिरिक्त आम, पलाश जैसे यज्ञीय वृक्षों के दण्ड को भी अपनाया जा सकता है।[164] यह दण्ड कृमि, कीट आदि से रहित तथा यूप की तरह वक्र एवं छाल से युक्त होना चाहिए।[165] वर्ण के अनुसार इन दण्डों की लम्बाई में भिन्नता बतायी गयी है। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य के दण्ड लम्बाई में वर्णक्रमानुसार सिर तक, ललाट तक, नाक के अग्रभाग तक होना चाहिए।[166]आपस्तम्ब में भी कहा गया है कि स्नातक के लिए बाँस का दण्ड धारण करने को कहा गया है।[167]दण्ड भी कृमि, कीट आदि से रहित यूप के समान वक्र तथा छाल से युक्त होना चाहिए।[168]

---

163. बैल्वपालाशौ ब्राह्मणदण्दौ। अश्वत्थपैल्वौ शेषे।, *गौ. ध.* १/१/२१-२२,

164. यज्ञियो वा सर्वेषाम्।, *गौ. ध.* १/१/२३

165. अपीडिता यूपवक्राः सशल्काः।, *गौ. ध.* १/१/२४

166. मूर्धललाटनासाग्रप्रमाणाः।, *गौ. ध.* १/१/२५

167. वैणवं दण्डं धारयेत्।, *आप ध.* १/३/५/३

168. *गौ. ध.* १/१/२४, *मनु.* ४/४७

२.२.३ कमण्डल :-

स्नातक के लिए पानी से युक्त कमण्डल रखने का आपस्तम्ब में वर्णन मिलता है।[169] कमण्डल को पानी के पात्र के रूप में देखा गया है। आज के समय में ब्रह्मचारी द्वारा कमण्डल रखने का प्रचलन नहीं रहा। कदाचित् बदलते दौर में इसकी आवश्यकता ही नहीं है अथवा इसका स्थान प्लास्टिक आदि निर्मित बोतलों ने ले लिया है जो समान्यतः किसी भी आज के विद्यार्थी के पास सहज देखने को मिल जाती है।

२.२.४ केश :-

ब्रह्मचारियों के केशों को रखने अथवा न रखने का विधान होता था। इस के निमित्त कहा गया है कि वह केश मुण्डवाये अथवा जटा धारण करे या शिखा को ही जटा के रूप में रखे।[170] आज के गुरुकुलों में यह नियम यथावत् देखने को मिलता है किन्तु सामान्य अध्ययन की संस्थानों में इस तरह का कोई नियम नहीं मिलता है।

२.२.५ मेखला :-

धर्मसूत्रों में ब्रह्मचारी के वर्ण अनुसार भिन्न - भिन्न प्रकार की मेखला धारण करने का नियम मिलता है। ब्राह्मण मूँज, क्षत्रिय मौर्वी तथा वैश्य कपास की मेखला का प्रयोग करते थे। आपस्तम्ब के अनुसार ब्राह्मण ब्रह्मचारी की मेखला मूँज की होती है जो तीन गुण वाली होती है यदि संभव हो तो वे गुण दाहिनी ओर को बटे हों। राजन्य ब्रह्मचारी के लिए धनुष की डोरी अथवा अयस् खण्ड से युक्त मूँज की मेखला होती है। वैश्य ब्रह्मचारी की मेखला ऊन का धागा होती है। कुछ आचारों के

---

169. सोदकं च कमण्डलुम्।, *आप. ध.* १/३/५/४

170. मुण्डजटिलशिखाजटाश्च।, *गौ. ध.*१/१/२६, जटिलः। शिखाजटो वा वापयेदितरान्।, *आप. ध.* १/१/२/३१-३२

मतानुसार तमाल की छाल से बटी रस्सी अथवा बैलों को जुएँ में जोड़ने वाली रस्सी (जोता) वैश्य ब्रह्मचारी की मेखला हो सकती है[171]

ये मेखलाएँ वर्णों के गुण - कर्म स्वभाव को प्रदर्शित करती हैं। मूँज (तृण) की मेखला तप, त्याग तथा संयम का प्रतीक बनकर ब्राह्मण ब्रह्मचारी में लोकोपकार की भावना से युक्त हो कर सांसारिक वस्तुओं को तृण के समान मानने की प्रेरणा देती है। धनुष की डोरी या अयस् खण्ड अस्त्र - शस्त्र का प्रतीक है। क्षत्रिय के लिए आयुध ज्ञान महत्त्वपूर्ण है। ऊन का धागा एवं बैलों को जुएँ में जोड़ने वाली रस्सी की मेखला वैश्य को व्यापार के लिए प्रेरित करती है। इस प्रकार धर्मसूत्रों में भिन्न - भिन्न वर्णों के लिए गुण, कर्म तथा स्वभाव के अनुसार भिन्न - भिन्न मेखला धारण करने का आचार मिलता है।

२.२.६ यज्ञोपवीत (जनेऊ) :-

ब्रह्मचारी के लिए यज्ञोपवीत (जनेऊ) धारण करना एक आवश्यक कर्म होता था। ब्रह्मचारी के लिए बौधायन ने दो यज्ञोपवीत रखने को कहा है।[172] वस्तुतः उपनयन के समय यज्ञोपवीत अथवा जनेऊ धारण करना उपनयन का अंग होता है।[173]

२.२.७ चरित्र तथा व्यक्तित्व विकास :-

धर्मसूत्रों में ब्रह्मचर्य आश्रम के द्वौरान शिष्य अपने व्यक्तित्व विकास के साथ - साथ चरित्र निर्माण करता था। आपस्तम्ब के मत में कहा गया है कि - **" समादिष्टेऽध्यापयति। वृद्धेतरे च सब्रह्मचारिणि। "**[174] यहाँ पर ' वृद्धतर ' शब्द से स्पष्ट

---

171. मौञ्जी मेखला त्रिवृद्ब्राह्मणस्य शक्तिविषये दक्षिणावृत्तानाम्। ज्या राजन्यस्य। मौञ्जी वाऽयोमिश्रा। आवीसूत्रं वैश्यस्य। सैरी तामली वेत्येके।, *आप. ध.*१/१/२/३३-३७

172. *बौधा. ध.*१/३/५५

173. शिवराम वामन आप्टे, *संस्कृत - हिन्दी शब्दकोश,* पृ. ८२३

174. तथा समादिष्टेऽध्यापयति। वृद्धेतरे च सब्रह्मचारिणि। *आप. ध.* १/२/७/२८

होता है कि गुरुकुल में रहते हुए ज्येष्ठ शिष्य अपने कनिष्ठ शिष्य को पढ़ाता है और गुरु के समान सम्मान भी पाता है अर्थात् शिष्य के व्यक्तित्व विकास के लिए गुरु अनेक अवसर उपलब्ध कराता है और शिष्य गुरु के सानिध्य में अपना व्यक्तित्व निखारता है।

चरित्र के महत्त्व के विषय में मनुस्मृतिकार ने कहा है कि - वेदों में निपुण होकर भी जिसका चरित्र सही नहीं है उस की अपेक्षा वह श्रेष्ठ है जो केवल गायत्री मन्त्र का ज्ञान रखता है किन्तु चरित्रवान है।[175]

२.३ ब्रह्मचर्य आश्रम का शैक्षणिक व्यवस्थागत आचार :-

ब्रह्मचर्य आश्रम एक ऐसी शिक्षण की व्यवस्था है जहाँ अध्ययन - अध्यापन के द्वारा ब्रह्मचारी जीवन के विभिन्न पहलुओं का ज्ञान प्राप्त करता है। शिक्षा का आज वर्तमान में जितना महत्त्व है उतना ही महत्त्व धर्मसूत्रों के ग्रन्थों में भी बतलाया गया है। समाज का उत्थान और पतन दोनों उसकी शिक्षा व्यवस्था पर आधारित रहता है। गौतम धर्मसूत्र के मत में मनुष्य सामाजिक स्तर पर धन, बन्धु, कर्म, जाति, विद्या और आयु इनसे मान सम्मान प्रदान करते हैं किन्तु इन सब में विद्या का स्थान सर्वोपरि है।[176] मनुस्मृतिकार के अनुसार भी -

" तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयस्करं परम्।
तपसा किल्विषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते।। " [177]

अर्थात् ब्राह्मण के लिए तप और विद्या दोनों ही महत्त्वपूर्ण हैं। तप से पापों का नाश होता है तो विद्या से अमरत्व की प्राप्ति होती है। इस प्रकार विद्या के महत्त्व पर

---

175. सावित्रीमात्रसारोऽपि वरं विप्रः सुयन्त्रितः। नायन्त्रितस्त्रिवेदोऽपि सर्वाशी सर्वविक्रयी॥ *मनु.* २/११८

176. वित्तबन्धुकर्मजातिविद्यावयांसि मान्यानि परबलीयांसि। श्रुतं तु सर्वेभ्यो गरीय। , *गौ. ध.* १/६/१८-१९

177. *मनु.* १२/१०४

संस्कृत वाङ्मय में श्लोक यत्र तत्र सहज रूप में उपलब्ध हो जाते हैं। उस विद्या को प्राप्त करने की व्यवस्थागत आचार नियमों का यहाँ पर प्रस्तुतिकरण किया जा रहा है।

२.३.१ शिक्षण प्रारम्भ :-

ब्रह्मचर्य आश्रम में शिक्षण प्रारम्भ का प्रथम स्थान घर माना गया है। माँ को प्रथम शिक्षक का स्थान प्राप्त है। तथापि बालक को शिक्षा ग्रहण हेतु गुरुकुल में भेजा जाता था। वहाँ वह अपने आचार्यों के सानिध्य में अपना स्वाध्याय प्रारम्भ करता था।

२.३.२ शिक्षण का विषय एवं पद्धतियाँ :-

धर्म का मूल वेद को मानने वाले धर्मसूत्रों में शिक्षण व्यवस्था वैदिक व्यवस्था का अनुकरण करती है। वैदिक समय में पठन पाठन मौखिक होता था। वेदों की शुद्धता बनाये रखने और कण्ठस्थीकरण के लिए विभिन्न प्रकार से श्लोकों का पाठ किया जाता था जैसे - संहिता - पाठ, पद - पाठ, क्रम -पाठ, जटा - पाठ, घन - पाठ आदि। ज्ञान राशि का आदान प्रदान लिखित शैली ना होकर मौखिक ही होता था।

कुछ विद्वानों ने इसे कण्ठस्थ पद्धति कहकर आलोचना भी की है कि आचार्य जो शिक्षा देता, शिष्य उसको अक्षरशः याद कर लेता है जिससे उसकी अपनी व्यक्तिगत बुद्धि का विकास नहीं हो पाता। काणे महोदय के अनुसार लोगों में धीरे - धीरे एक विचित्र भावना घर करने लगी कि वेदों को केवल याद करने से पाप से मुक्ति हो जाती है।[178]

किन्तु यह भावना सही नहीं है क्योंकि निरुक्तकार स्पष्ट रूप से कहते हैं कि बिना अर्थ के वेदाध्ययन करने वाला वृक्ष तथा जड़ की भाँति केवल भार का वहन करता है जबकि वेदों का अर्थ जानने वाला आनन्द अनुभव करता है तथा ज्ञान से पाप

---

[178] पी.वी. काणे, *धर्म. शा. इति.*, भाग -१, पृ.२३४

दूर होने पर स्वर्ग की प्राप्ति होती है।[179] धर्मसूत्र काल में पाण्डुलिपियों का प्रादुर्भाव हो चुका था। तथापि पठन पाठन में मौखिकता पर ही बल दिया जाता था। साहित्य में भी विद्या का कण्ठस्थीकरण को ही उत्तम माना गया है।[180] आपस्तम्ब के अनुसार गुरुकुल में ऐसे शिष्य भी होते थे जो आचार्य के समान ही सम्मान के अधिकारी होते थे जिनको ' **वृद्धतर** ' कहा जाता था।[181] स्पष्ट है कि आचार्य का संरक्षण प्राप्त कर वरिष्ठ शिष्य कनिष्ठ शिष्यों को अध्ययन में सहायता करते थे। जिससे शिक्षण सुचारू रूप से चल सके।

मनुस्मृतिकार मनु ने शिक्षण के विषय में कहा है कि शिष्य के यज्ञोपवीत संस्कार के बाद, गुरु सबसे पहले उसे शुद्धि, आचार, दोनों सन्ध्याओं का ज्ञान दे। शिष्य को हल्के वस्त्र पहनना, शास्त्र विधि से उत्तरमुख कर आचमन करके जितेन्द्रिय होकर, आचार्य के चरणों को स्पर्श कर अध्ययन प्रारम्भ होता है। वेदाध्ययन के प्रारम्भ और अन्त में गुरु के चरण में प्रणाम करना और हाथ जोड़ कर पठन - पाठन करने को मनु द्वारा ब्रह्माञ्जलि शब्द दिया गया है।

चरण स्पर्श भी दाहिने हाथ से दाहिना पैर, बायें हाथ से बायाँ पैर का स्पर्श किया जाता है। आचार्य 'हे शिष्य पढ़ो' कहकर वेदाध्ययन प्रारम्भ करें तथा अन्त में ' **विरामोऽस्तु** ' से विराम देना चाहिए। वेदाध्ययन के प्रारम्भ और अन्त में ॐ का उच्चारण सदा करें। यदि ऐसा नहीं करते तो आदि में ॐ न कहने पर विद्या में प्रेम नहीं होता तथा अन्त में न कहने पर विद्या भूल जाती है। पवित्रता और स्वाध्याय से पूर्व भी ॐ का उच्चारण करना चाहिए।[182] इस प्रकार स्पष्ट होता है कि शिष्य का आचार्य

---

179 *निरुक्त,* १/१८

180 पुस्तकस्था तु या विद्या परहस्थगतं धनम्। कार्यकाले समुत्पन्ने न सा विद्या न तद्धनम्॥ *सुभाषितरत्नभण्डार,* पृ.१६८, श्लोक सं. ४१३

181 तथा समादिष्टेऽध्यापयति। वृद्धेतरे च सब्रह्मचारिणि। *आप. ध.* १/२/७/२८

182. अध्येष्यमाणस्त्वाचान्तो यथाशास्त्रमुदङ्मुखः। ब्रह्माञ्जलिकृतोऽध्याप्यो लघुवासा जितेन्द्रियः॥ ब्रह्मारम्भेऽवसाने च पादौ ग्राह्यौ गुरोः सदा।संहत्य हस्तावध्येयं स हि ब्रह्माञ्जलिः स्मृतः॥

के प्रति और आचार्य का अध्ययन अध्यापन के प्रति आदर भाव था। वर्तमान में ये आदर भाव के मूल्य धूमिल हो गये हैं।

गौतम धर्मसूत्रकार के अनुसार शिष्य के साथ मारपीट नहीं करनी चाहिए। केवल उसको सामान्य समझाते हुए उसकी भर्त्सना के द्वारा अनुशासन में रखना चाहिए।[183] यदि शिष्य भर्त्सना से भी वश में नहीं आता है तब उद्दण्ड शिष्य को पतली रस्सी अथवा पतली छड़ी से मारकर अनुशासित करना चाहिए।[184] लेकिन क्रोधवश हाथ आदि से दण्ड नहीं देने को कहा गया है। यदि आचार्य ऐसा करता है तो वह राजा द्वारा दण्डनीय होता है।[185] शिष्य को एक वेद का अध्ययन करने के लिए बारह वर्ष तक ब्रह्मचर्य व्रत रखना चाहिए।

यदि वह चारों वेदों का अध्ययन करने में समर्थ है और वह चारों वेदों का अध्ययन चाहता है तो प्रत्येक वेद के लिए १२ वर्ष का समय देते हुए गुरुकुल में निवास करे। अथवा शिष्य जितने समय में एक, दो, तीन या चार वेदों का अध्ययन करता है उतने समय तक ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए ब्रह्मचर्य आश्रम में रहे।[186]

ब्रह्मचर्य आश्रम में वेद, वेदाङ्ग, गन्धर्वविद्या, ब्रह्मविद्या, नक्षत्रविद्या, नीतिशास्त्र, योग, सर्पविद्या, अध्यात्म, इतिहास आदि विभिन्न विषयों का ज्ञान दिया जाता था।[187] मुण्डकोपनिषद् में विद्या को दो प्रकार का कहा गया है :- अपराविद्या

व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसंग्रहणं गुरोः। सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यो दक्षिणेन च दक्षिणः॥
अध्येष्यमाणं तु गुरुर्नित्यकालमतन्द्रितः। अधीष्व भो इति ब्रूयाद्विरामोऽस्तिवति चारमेत्॥
ब्राह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा। स्रवत्यनोङ्कृतं पूर्वं पुरस्ताच्च विशीर्यति॥, *मनु.* २/७०-७४

183. शिष्यशिष्टिरवधेन। *गौ. ध.* १/१/४८

184. अशक्तौ रज्जुवेणुविदलाभ्यां तनुभ्याम्। *गौ. ध.* १/१/४९

185. अन्येन घ्नन् राज्ञा शास्यः॥ *गौ. ध.* १/१/५०

186. द्वादश वर्षाण्येकवेदे ब्रह्मचर्य चरेत्। प्रतिद्वादश वा सर्वेषु। ग्रहणान्तं वा।, *गौ. ध.* १/१/५१-५३

187. *छा. उ.* ७/१

तथा पराविद्या।[188] अतः स्पष्ट है कि ब्रह्मचर्य आश्रम में शिष्य न केवल भौतिक विद्या का ज्ञान प्राप्त करता था अपितु अध्यात्म ज्ञान से भी लाभान्वित होता था। वेदों में पठित **"कृण्वन्तो विश्वमार्यम्"** तथा **"पुमांसं परिपातु विश्वतः"** आदि आदर्श वाक्य सौहार्द और सद्भावना का ज्ञान देते हैं। ब्रह्मचर्य आश्रम का उद्देश्य मनुष्य को समाज के योग्य बनाना होता है।

२.३.३ ब्रह्मचारी का स्वाध्याय :-

ब्रह्मचर्य आश्रम में ब्रह्मचारी के लिए स्वाध्याय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य होता था। उसके स्वाध्याय को ब्राह्मण में तप के समान माना गया है और यह भी कहा गया है कि कृच्छ्र, अतिकृच्छ्र, चान्द्रायण आदि तपों का जो फल होता है, उस फल की प्राप्ति स्वाध्याय से भी की जा सकती है।[189] यही नही स्वाध्याय के विषय में कहा गया है कि किसी भी स्थिति में होकर; चाहे खड़े होकर या बैठकर अथवा सोकर किसी भी स्थिति में किया गया स्वाध्याय तप के समान ही होता है।

स्वाध्याय को एक प्रकार का दैनिक यज्ञ कहा गया है। जिस प्रकार दर्शपूर्णमास आदि में पुरोडाश साधन होता है, उसी प्रकार ब्रह्म ही यज्ञ का साधन होता है। प्रकृति में मेघ गर्जन, विद्युत का चमकना या वज्रपात इन सब को स्वाध्याय रूपी यज्ञ का वषट्कार शब्द कहा है। इसलिए ब्रह्मचारी को चाहिए कि चाहे मेघ गर्जन हो, बिजली चमके, वज्रपात हो या आँधी चले, उसे अपना अध्ययन करते रहना चाहिए अन्यथा यह वषट्कार शब्द व्यर्थ हो जायेंगे।

स्वाध्याय के विषय में यह भी कहा गया है कि सभी वेदों का अध्ययन करते समय यदि ओंकार आदि मन्त्रों का अध्ययन करने पर उस दिन का स्वाध्याय सम्बन्धित एक अध्ययन पूरा हो जाता है अर्थात् यदि मेघ गर्जना हो, तीव्र वायु चलती हो, विद्युत चमकती हो या वज्र पात होता हो तो एक ऋचा का, एक यजुर्मन्त्र का अथवा एक

---

188. द्वे विद्ये वेदितव्ये इति हस्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति।, *मुण्ड. उ.* १/४/५/

189. तपः स्वध्याय इति ब्राह्मणम्। *आप. ध.*, १/४/१

साम का अध्ययन करना चाहिए। यहाँ कहने का भाव यह है कि परिस्थितियाँ कितनी भी विपरीत हो जायें ब्रह्मचारी को अपना स्वाध्याय नहीं छोड़ना चाहिए।[190]

वर्तमान में मैकाले शिक्षा व्यवस्था में स्वाध्याय पर ज्यादा बल नहीं दिया जा रहा है। पठन - पाठन जो मौखिक होता था उसमें लेखन विधा का भी समावेश कर लिया गया है। परिणाम स्वरूप याद रखने के लिए लेखन कार्य अधिक होने लगा और ज्ञान जो कण्ठस्थ होता था कण्ठस्थ कम पुस्तकों में अधिक स्थान लेने लगा है। यान्त्रिक कान्ति (कम्प्यूटर) के इस युग में लेखन का स्थान टंकण ले रहा है। साथ ही विपरीत या प्रतिकूल परिस्थितियों में विद्यालयों का अवकाश घोषित कर दिया जाता है। शीतकालीन अवकाश, ग्रीष्मकालीन, अवकाश आदि में स्वाध्याय के प्रति दृढ़ता का भाव धूमिल हो रहा है।

२.३.३.१ अनाध्याय काल :-

धर्मसूत्र जहाँ ब्रह्मचारी के स्वाध्याय और प्रतिदिन के पठन पाठन पर बल देते हैं वहीं किसी विशेष कारण वश जैसे प्राकृतिक आपदा, मृत्यु, अपवित्रता के कारण उस काल में अध्ययन निषेध कहा गया है। गौतम तथा आपस्तम्ब के अनुसार वर्षा, विद्युत और मेघ गर्जन एक साथ होने पर तीन रात्रि तक अनध्याय होता था।[191] वर्षा काल में यदि मूसलाधार वर्षा होती है तो जब तक पृथ्वी का जल सूख नहीं जाता, तब तक अनध्याय रहता है।[192] भूकम्प के विषय में आपस्तम्ब ने कहा है कि भूकम्प आने पर उस समय से लेकर अगले दिन उसी समय तक अनध्याय होना चाहिए।[193]

---

190. तत्र श्रुयते स यदिन्तिष्ठन्नासीनः शयानो वा स्वाध्यायमधीते तप एव तत्तप्यते तपो हि स्वाध्याय इति।,

आप. ध. १/४/२,३,५

191. *गौ. ध.* २/७/४, *आप. ध.* १/३/११/२३

192. *आप. ध.* १/३/११/२४

193. *आप. ध.* १/३/ ११/२६

२.३.४ गुरु के आचार व प्रकार :-

गुरु की महिमा सम्पूर्ण विश्व में विख्यात है। साहित्य में न केवल गुरु को पिता के तुल्य माना है अपितु ब्रह्मा, विष्णु और महेश तक की संज्ञा दे दी गयी है। कबीर दास ने अपने दोहे में इनके गुणों को अनन्त मानते हुए कहा है कि -

" सब धरती कागज करू, लेखनी सब वनराज।

सात समुद्र की मसि करू, गुरु गुण लिखा ना जाए॥ "

गुरु का देवता के समान मान कर सम्मान देने का कारण उसका आचारों का ज्ञान है जिसे वह अपने शिष्य को देता है। आचारों के कारण ही गुरु पूजा जाता है। गुरु के उन्हीं आचारों को यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

२.३.४.१ गुरु का महत्त्व :-

धर्मसूत्रों में गुरु को विशिष्ठ स्थान प्राप्त है। इसलिए गुरु को देवता के समान माना गया है।[194] आपस्तम्ब के मतानुसार माता - पिता शारीरिक संरचना प्रदान करते हैं किन्तु गुरु उस शारीरिक संरचना में पुरुषार्थों की प्राप्ति के समर्थ बनाता है। विद्या से उत्पन्न उसका जन्म श्रेष्ठ है।[195] वैदिक काल में दीक्षा हेतु आये शिष्य को आचार्य तीन रात्रि अपने गर्भ (सानिध्य) में रखता है। चौथे दिन उसका गुरु गर्भ से जन्म होता है।[196] इस प्रकार दो बार जन्म होने से ब्रह्मचारी को द्विज कहा जाता है। द्विज से अभिप्राय दो जन्मों से है एक जन्म माता के गर्भ से तथा द्वितीय जन्म ज्ञान प्राप्त कर गुरु के गर्भ से होता था।[197] विष्णु धर्मसूत्रकार का मत है कि द्वितीय जन्म में

---

194. *आप. ध.* १/२/६/१३

195. स ही विद्यातस्तं जनयति। तच्छ्रेष्ठं जन्म। शरीरमेव मातापित्रौ जन्यतः। वही, १/१/१/१६-१८

196. "आचार्य उपनीयमानं ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भनन्तः। तं रात्रीस्त्रिस्रः उदरे विभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसयन्ति देवाः।" *अथर्ववेद,* ११/१४/३

197. तद्वितीयं जन्म। *गौ. ध.* १/१/९

सावित्री (विद्या) उसकी माता और उसका पिता आचार्य होता था।[198] इस प्रकार गुरु का स्थान माता - पिता से अधिक सम्माननीय माना गया है लेकिन जो गुरु विद्या प्रदान करने में प्रमाद करता है उस गुरु का त्याग करना भी धर्मसूत्रों में कहा गया है।[199]

२.३.४.२ गुरु का चयन :-

उपनयन संस्कार कराते समय सम्यक् प्रकार से अच्छे से देखभाल कर गुरु का चयन करना चाहिए। आपस्तम्ब का मत है कि उपनयन संस्कार ऐसे आचार्य से कराना चाहिए जिसने विधि पूर्वक वेदों का छह अंगों सहित ज्ञान प्राप्त किया हो तथा निषिद्ध कर्मों का त्याग कर काम्य कर्मों में रत हो।[200] इस के विपरीत वेदाध्ययन से रहित व्यक्ति से उपनीत होना मानो अन्धकार से निकलकर अन्धकार में प्रवेश करता है; वेदाध्ययन से अनभिज्ञ वह स्वयं भी अन्धकार से निकलकर अन्धकार में ही प्रवेश करता है।[201]

२.३.४.३ गुरु के प्रकार (गुरु, उपाध्याय, आचार्य) :-

समाज को ज्ञान देने वाले व्यक्ति गुरु, आचार्य तथा उपाध्याय आदि नामों से जाना जाता है यद्यपि ये सभी शब्द समानार्थकता का बोध करा रहे हैं तथापि प्राचीन शास्त्रकारों की दृष्टि से इनमें भेद है।

(क) गुरु :-

उत्तम गुणों से युक्त कोई भी व्यक्ति गुरु हो सकता है। विद्या अध्ययन के अतिरिक्त अन्य कार्यों तथा विधि - विधानों का ज्ञान देने वाले को भी गुरु पद प्राप्त

---

198. तत्रास्य माता सावित्री भवति पिता त्वाचार्यः। *वि. ध.* २८/३८

199. आचार्योऽप्यनाचार्यो भवति श्रुतात्परिहरमाणः। *आप.ध.* १/२/८/२८

200. तस्मिन्नभिजनविद्यासमुदेतं समाहितं संस्कार्तारमीप्सेत्। वही, १/१/१/१२

201. तमसो वा एष तमः प्रविशति यमविद्वानुपनयते यथाश्वऽविद्वानिति हि ब्राह्मणम्। वही, १/१/१/११

होता था। काणे महोदय के अनुसार गुरु शब्द स्त्री या पुरुष के लिए श्रद्धा प्रकट करने के लिए अधिकतर होता था।[202] विष्णु मतानुसार पुरुष के पिता, माता और आचार्य तीन गुरु होते हैं।[203] मनु का कहना है कि जो व्यक्ति गर्भाधान आदि संस्कार विधि से करता है और अन्नादि से पालन पोषण करता है, उसे गुरु कहते हैं।[204] अत: स्पष्ट है कि उस काल में माता - पिता सन्तान के पहले गुरु होते थे।

(ख) उपाध्याय :-

उपाध्याय के विषय में मनुस्मृतिकार का कहना है कि जो व्यक्ति किसी विद्यार्थी को वेद या वेदाङ्ग का कोई अंश पढ़ाता है और इस कार्य के बदले में शुल्क लेता है उसे उपाध्याय कहते हैं।[205] सम्भवतः उपाध्याय किसी एक विशेष विद्या के, वेद के किसी एक विशेष अंग के या किसी विशेष विद्या के विशेषज्ञ होते थे जो प्रार्थी को निश्चित शुल्क पर उसे ज्ञान से अवगत कराते थे।

(ग) आचार्य :-

आचार्य शब्द 'आङ्' उपसर्ग से 'चर्' धातु तथा 'ण्यत्' प्रत्यय लगने से बनता है। निरुक्तकार ने आचार्य शब्द की उत्पत्ति आचार से की है - आचार को ग्रहण कराने वाले व्यक्ति को आचार्य कहते हैं।[206] इस प्रकार आचार्य न केवल अध्ययन - अध्यापन कराता था अपितु शिष्यों को श्रेष्ठ आचार का भी ज्ञान देता था। आचार्य से शिष्य धर्म

---

202. *ध. शा. इति.,* भाग -१, पृ. २३२

203. त्रयःपुरुषस्यातिगुरवो भवन्ति। पिता माता आचार्यश्च। *वि. ध.* ३१/१

204. निषेकदीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि। संभावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते॥ *मनु.* २/१४२

205. एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गन्यपि वा पुनः। योऽध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते॥ *मनु.* २/१४१

206. आचार्य आचारं ग्राहयति। *निरुक्त,* १/४

का ज्ञान प्राप्त करता था।[207] गौतम के मत में जो उपनयन संस्कार के समय द्वितीय जन्म देता है वह आचार्य कहलाता है।[208] आचार्य शिष्य को उपनीत होने पर वेदों का ज्ञान देता था।[209] इसलिए सभी गुरुओं में आचार्य को श्रेष्ठ माना गया है।[210] वैदिक ज्ञान राशि से रहित व्यक्ति से उपनीत होकर अन्धकार से निकलकर अन्धकार में प्रवेश कहा गया है। ऐसे में वेद ज्ञान में निपुण आचार्य वैदिक ज्ञान के प्रकाश से अवगत करा सकता है।[211]

मनु ने तीनों के विषय में कहा है कि आचार्य उपाध्याय से दश गुणा अधिक पूज्य है, पिता आचार्य से सौ गुना लेकिन माता - पिता से हज़ार गुना अधिक पूजनीया है[212]

२.३.५ शिष्य के आचार :-

ब्रह्मचारी बालक उपनयन संस्कार के उपरान्त द्विज कहलाता है। जन्म से सभी को शूद्र कहा गया है लेकिन उपनयन संस्कार के उपरान्त द्विज कहा गया। जिस प्रकार धर्मसूत्रों में माता पिता बालक के लिए गुरु का चयन करते थे वैसे ही गुरु भी शिष्यों का चयन उनके कुल, चरित्र, प्रतिभा तथा बुद्धि आदि की परीक्षा ले कर करते थे। धर्मसूत्रों के अनुसार शिष्य में जिज्ञासु, सत्यभाषी, विनम्र, क्षमाशील, लज्जाशील, मृदुभाषी, एकान्तशील, अप्रमादी, उत्साही, अथक परिश्रमी, आलस्य रहित, गर्व रहित, इन्द्रिय निग्रह, आत्म संयमी, क्रोध रहित, ईर्ष्यारहित, कर्तव्य परायण, सेवा

---

207. यस्माद्धर्मानाचिनोति स आचार्यः। *आप. ध.* १/१/१/१४

208. तद्यस्मात्स आचार्यः। वेदानुवचनाच्च। *गौ. ध.* १/१/१०-११

209. उपनीय कृत्स्नं वेदमध्यापयेत्स आचार्यः। *वसि. ध.* ३/२१

210. आचार्यः श्रेष्ठो गुरुणां। *गौ. ध.* १/२/५६

211. तमसो वा एष तमः प्रविशति यमविद्वानुपनयते यथाश्वऽविद्वानिति हि ब्राह्मणम्। वही, १/१/१/११

212 उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता। सहस्रं तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते। *मनु.* २/१४५

परायण तथा धैर्यवान आदि गुण होने चाहिए। [213] मनुस्मृतिकार के अनुसार आचार्य के पुत्र सेवा करने वाले, ज्ञानी, धार्मिक, पवित्र, सत्य बोलने वाला, ज्ञान ग्रहण करने में समर्थ, हित चाहने वाला तथा स्वजातीय इन दश गुणों से सम्पन्न शिष्य को धर्म का ज्ञान दिया जा सकता है।

" आचार्यपुत्रः शुश्रूषुर्ज्ञानदो धार्मिकः शुचिः।

आप्तः शक्तोऽर्थदः साधुः स्वोऽध्याप्या दश धर्मतः॥ "[214]

आचार्य के समीप रहकर विद्या का ग्रहण करने वाले शिष्य के आश्रम में संयमित तथा कठोर जीवन यापन करता था।

२.३.६ गुरु - शिष्य आचार :-

धर्मसूत्रों में गुरु और शिष्य के सम्बन्ध को अत्यन्त पवित्र माना गया है। गुरु के द्वारा ही शिष्य का मोक्षगामी मार्ग प्रशस्त किया जाता था। धर्मसूत्रों में गुरु का विशिष्ट स्थान कहा गया है। गुरु अपने ज्ञान के द्वारा शिष्य को विद्या में निपुण बनाता था। गुरु के सम्मान में शिष्य के अनेक कर्तव्यों को बतलाया गया है। गुरु - शिष्य के सम्बन्धित आचारों का यहाँ बिन्दुओं के माध्यम से वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

- ब्रह्मचारी गुरु की शय्या तथा आसन से अपेक्षाकृत अपनी शय्या तथा आसन नीचे रखे। वह गुरु के सोने के बाद सोवेगा और उनके जागने के पहले ही उठ जाएगा।[215]
- जब भी गुरु उसे आदेश दे अथवा कुछ भी कहे तो ब्रह्मचारी को चाहिए कि वह जहाँ पर भी है शय्या, आसन या स्थान वहाँ से उठकर उत्तर दे [216] और यदि

---

213. *आप. ध.* १/१/३/१७-२४, *बौधा. ध.*१/२/३/२१

214. *मनु.*२/१०९

215. अधः शय्यासनी पूर्वोत्थायी जघन्यसंवेशी। *गौ. ध.* १/२/२६

गुरु दिखायी न पड़े अर्थात् अन्यत्र से कुछ कहे तो शिष्य को उसके पास जाना चाहिए।[217]

- गुरु के सम्मुख शिष्य को अपना नाम और गोत्र उचित रूप से शुद्धता के साथ बताना चाहिए। पूज्य और विद्या आदि में श्रेष्ठ जनों को भी वैसे ही बतावें।[218]
- ब्रह्मचारी को गुरु के पीछे-पीछे चलना चाहिए।[219]
- गुरु के लिए हितकारी और प्रसन्न रखने वाले कर्मों के प्रति तत्पर रहना चाहिए।[220]
- ब्रह्मचारी को गुरु की भार्या और उनकी संतान के साथ गुरु के समान ही व्यवहार करना चाहिए।[221]
- लेकिन ब्रह्मचारी के लिए उनका उच्छिष्ट भोजन करना, उन्हें मलते हुए स्नान कराना, अलंकृत करना, पैर धोना, शरीर दबाना तथा उपसंग्रहण विधि अर्थात् दाहिने हाथ से दाहिने और बाएँ हाथ से बायें पैर को छूकर प्रणाम करना इस तरह का कर्म वर्जित कहा गया है।[222] यही पर जहाँ गौतमधर्म सूत्रकार यात्रा से लौटकर आयी गुरु पत्नी के उपसंग्रहण विधि से चरण स्पर्श का कहते हैं वही कुछ आचार्य इस प्रकार यात्रा से लौटकर आयी गुरु पत्नी के युवक (प्रायः सोलह वर्ष की आयु वाले) शिष्य को युवती गुरु पत्नी का चरण न छुना उचित कहा है।[223]

---

216. शय्यासनस्थानानि विहाय प्रतिश्रवणम्। *गौ. ध.* १/२/३०

217. अभिक्रमणं वचनाददृष्टेन। *गौ. ध.* १/२/३१

218. नामगात्रे गुरोः समानतो निर्दिशेत्। अर्चिते श्रेयसि चैवम्। *गौ. ध.* १/२/२८-२९

219. गच्छन्तमनुव्रजेत्। *गौ. ध.* १/२/३३

220. युक्तः प्रियहितयोः। *गौ. ध.* १/२/३६

221. तद्भार्यापुत्रेषु चैवम्। *गौ. ध.*१/२/३७

222. नोच्छिष्टाशनस्नापनप्रसाधनपादप्रक्षालनोन्मर्दनोपसंग्रहणानि। *गौ. ध.* १/२//३८

223. विप्रोष्योपसंग्रहणं गुरुभार्याणाम्। नैके युवतीनां व्यवहारप्राप्तेन। *गौ. ध.* १/२/३९-४०

- जब गुरु शिष्य को अध्ययन के लिए आह्वान करे तो शिष्य को अवश्य ही जाना चाहिए।[224]

इन सभी गुरु - शिष्य सम्बन्धित आचारों से स्पष्ट होता है कि शिष्य गुरु के साथ - साथ उसके परिवार के प्रति भी सम्मान तथा आदर का भाव रखता था। गुरु भी शिष्य को सम्यक् ज्ञान देकर उपकृत करता था।

२.३.७ पठन - पाठन आचार :-

उपनीत ब्रह्मचारी के लिए वेदाध्ययन के विषय में कहा गया है कि उसके लिए अड़तालीस वर्ष वेदादि के अध्ययन के लिए निर्धारित है अथवा प्रत्येक वेद के लिए चौबीस या बारह वर्ष के ब्रह्मचर्य का आचरण करना चाहिए अथवा प्रत्येक काण्ड के लिए एक वर्ष के ब्रह्मचर्य का पालन करें ।

जब तक वेदाध्ययन कर लें, तब तक ब्रह्मचर्य का आचरण करना चाहिए।[225] ४८ वर्षों तक का वेदाध्यन का समय करने पर भी बौधायन सूत्रकार का कहना है कि ब्रह्मचर्य की अवधि बहुत लम्बी नहीं होनी चाहिए क्योंकि जीवन अनिश्चित है।[226]

२.३.८ ब्रह्मचारी के कर्तव्य :-

ब्रह्मचारी को वेदाध्ययन कराने के पश्चात् आचार्य उपदेश के माध्यम से कर्तव्यों का स्मरण कराता है कि सत्य बोलो। धर्म का आचरण करो। स्वाध्याय में प्रमाद मत करो। आचार्य की आज्ञा से स्त्रीपरिग्रह कर सन्तान परम्परा का छेदन मत करो। ब्रह्मचारी के लिए माता, पिता, आचार्य, अतिथि ये सब देव तुल्य होने चाहिए।

---

224. आहुतोऽध्यायी। *गौ. ध.* १/२/३५

225. अष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि पौराणं वेदब्रह्मचर्यम्। चतुर्विंशतिं द्वादश वा प्रतिवेदम्। संवत्सरावमं वा प्रतिकाण्डम्। ग्रहणान्तं वा। *बौधा. ध.* १/२/३/१-४

226. जीवितस्याऽस्थिरत्वात्। *बौधा. ध.* १/२/३/५

अनिन्द्य कर्मों को स्वीकार करो आदि उत्तम उपदेश आचार्य ब्रह्मचारी को देता है।[227] आचार्य ने तप से ब्रह्म को जानने की इच्छा करने को कहा है –

"तपासा ब्रह्म विजिज्ञासस्व"[228]

मनुस्मृतिकार ने ब्रह्मचारी को उत्तम आचरण धारण करने के लिए कहा है। वही व्यक्ति का प्रथम धर्म है।[229] इस प्रकार के श्रेष्ठ लोकाचार के साथ ब्रह्मचारी व्यवसाय के साथ जीवन यापन करता था परन्तु आज समाज में शिक्षा का मुख्य उद्देश्य व्यवसाय बनकर रह गया है तथा आचार गौण स्थान पर है।

२.४ ब्रह्मचर्य के आचार तत्त्व :-

ब्रह्मचर्य का पालन करते समय अनेक आचार तत्त्वों का पालन करना अनिवार्य होता है। ब्रह्मचारी को लहशुन और प्याज तथा तामसिक तत्त्वों वाले पदार्थों का पूर्ण रूप से त्याग करना होता है। इनका प्रयोग करना ब्रह्मचारी के लिए निषेध बताया गया है।

२.४.१ चरण स्पर्शाचार :-

ब्रह्मचर्य आश्रम में चरण स्पर्शाचार का बड़ा महत्त्व बताया गया है। ब्रह्मचारी अपने आचार्य के साथ विनम्रता के साथ व्यवहार करता था। प्रातःकालीन समय पर वह अपने आचार्य के चरणों में दण्डवत् प्रणाम करके स्वाध्याय करता था। यात्रा से लौटने पर वह अपनी गुरु माताओं के भी चरण स्पर्श करता था।[230] इस प्रकार का वर्णन चरण स्पार्शाचार के सन्दर्भ में दिया गया है।

---

227. *तै.उ.* , ११/१-४

228. *तै.उ.* , ३/२/५

229. " आचारः प्रथमो धर्मः। " *मनु.*

230. विप्रोध्योपसंग्रहणं गुरूभार्याणाम्, *गौ. ध.*, १/२/३९

२.४.२ सूर्योदय से पहले उठना :-

ब्रह्मचारी को सूर्योदय से पहले उठने का विधान किया गया है। उसे गाँव के बाहर सन्ध्या तथा प्रातः काल की सन्ध्योपासन करने के साथ ही यह भी विधान किया गया है कि प्रातः सन्ध्या में नक्षत्रों के दिखाई देने के समय से लेकर सूर्योदय के समय तक खड़ा रहने और सायं सन्ध्या में सूर्य की ज्योति दिखाई देते रहने के समय से लेकर नक्षत्रों के दिखाई पड़ने के समय तक मौन बैठ कर सन्ध्योपासन करें।[231] सन्ध्या वन्दन के इस विधान में ब्रह्मचारी का प्रातः सूर्योदय के पूर्व जागरण निस्संदेह होता ही था। मनुस्मृतिकार भी इस विधान को अपने ग्रन्थ में लिखते है कि :-

"पूर्वा संध्यां जपंस्तिष्ठेत्सावित्रीमाऽर्कदर्शनात्।

पश्चिमां तु समासीत सम्यगृक्षविभावनात्॥"

२.४.३ भिक्षाटन सम्बन्धि आचार :-

आचार्य के समीप रहते हुए ब्रह्मचारी का एक कर्तव्य भिक्षा के द्वारा अपना और आचार्य का निर्वहन करना भी होता था। भिक्षाटन के पश्चात् ब्रह्मचारी सभी प्राप्त वस्तुओं को आचार्य के पास लेकर जाता था। आचार्य जो भी उसमें से ग्रहण करता, शेष पर ब्रह्मचारी निर्वाह करता था। भिक्षापात्र लेकर सुबह - शाम ब्रह्मचारी भिक्षाटन करें तथा भिक्षा ग्रहण करने के लिए कहा गया कि अयोग्य निम्नवर्ण के पुरुषों और अभिशप्तों को छोड़कर अन्य कहीं से भी भिक्षा को ग्रहण किया जा सकता है।[232] यहाँ ध्यातव्य है कि ब्रह्मचारी भिक्षा को आचार्य के पास ले जाकर निवेदन करता है, उनके आदेश पाने पर ही भोजन करता है और यदि किसी कारण से

---

231. बहिः संध्यत्वं च। तिष्ठेत्पूर्वामासीतोत्तरां सज्योतिष्याज्योतिषो दर्शनाद्वाग्यतः। *गौ.ध.* १/२/१६-१७

232. सर्वं लाभमाहरन् गुरवे सायं प्रातरमत्रेण भिक्षाचर्यं
चरेद्भिक्षमाणोऽन्यत्राऽपपात्रेभ्योऽभिशस्ताञ्च।
आप. ध. १/१/२/२५

आचार्य आश्रम से बाहर होता है तो उसके कुल के सदस्य (पत्नी या पुत्र) प्राप्त भिक्षा अर्पित करता है[233] और यदि आचार्य सपरिवार कहीं बाहर गये हों तो दूसरे श्रोत्रियों को अर्पित करना चाहिए। ब्रह्मचारी को कभी भी केवल अपने लिए भिक्षाटन नहीं करना चाहिए।[234]

- भिक्षाटन में सम्बोधन प्रयोग:-

भिक्षाटन करते समय ब्रह्मचारी को सम्बोधन भिन्न प्रकार से करना होता था।

- वसिष्ठ धर्मसूत्र के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य ब्रह्मचारी क्रमशः आरम्भ, मध्य तथा अन्त में भवत् शब्द का उच्चारण करते हुए भिक्षाटन करें।[235]
- आपस्तम्ब के अनुसार ब्राह्मण ब्रह्मचारी भिक्षा माँगते समय 'भवति' का प्रयोग पहले करें। क्षत्रिय मध्य में तथा वैश्य अन्त में 'भवति' संबोधन का प्रयोग करे।

- **ब्राह्मण ब्रह्मचारी - भवति भिक्षां देहीति।**
- **क्षत्रिय ब्रह्मचारी - भिक्षां भवति देहीति।**
- **वैश्य ब्रह्मचारी - भिक्षां देही भवतीति।[236]**

भिक्षा के लिए एक ब्रह्मचारी का विनम्र, धैर्यवान ,सुशील आदि आचारों से युक्त होना अत्यन्त आवश्यक होता है। समाज ने भिक्षा देकर उसका जो पालन पोषण किया है इसके लिए वह समाज का ऋणी है। इस प्रकार ब्रह्मचारी का भी समाज के प्रति उत्तरदायित्व होता है।

---

233. तत्समाहृत्योपनिधायाऽचार्याय प्रब्रुयात्। तेन प्रदिष्टं भुञ्जीत। विप्रवासे गुरोराचार्य कुलाय। *आप. ध.* १/१/३/३१-३३

234. तैर्विप्रवासेऽन्येभ्योऽपि श्रोत्रियेभ्यः। नाऽऽत्मप्रयोजनश्चरेत्। *आप. ध.* १/१/२/३४-३५

235. *वसि. ध.* ११/६८-७०

236. भवत्पूर्वया ब्राह्मणो भिक्षेत। भवन्मध्यया राजन्यः। भवदन्त्यया वैश्यः। *आप ध.* १/१/२/२८-३०

२.४.४ भोजन आचार :-

ब्रह्मचर्य आश्रम में ब्रह्मचारी भिक्षा माँगकर भोजन करता था।एक से अधिक आचार्य होने पर ब्रह्मचारी भिक्षा में प्राप्त भोजन को उस आचार्य के समक्ष प्रस्तुत करें जिसके अधीन वह उस समय अध्ययन कर रहा है।[237] यदि आचार्य किसी कार्य वशात् बाहर है और कोई भी ऐसा नहीं हो जिसके सम्मुख ब्रह्मचारी भिक्षा को प्रस्तुत कर सके तो उसे अग्नि में भिक्षा का अंश डाल कर भोजन करना चाहिए।[238]आचार्य की अनुपस्थिति में उनकी पत्नी, उनके पुत्र या अपने साथ के ब्रह्मचारियों के समक्ष रखना चाहिए। उनकी अनुमति के पश्चात् ही भोजन करना चाहिए।[239] ब्रह्मचारी को भोजन करते समय मौन तथा प्रसन्न रहना, उसे भोजन का लालच नहीं करना चाहिए तथा जल का पात्र पास में रखना चाहिए।[240]

२.४.५ शौच आचार :-

गुरुकुल में निवास करने वाले सभी गुरुकुलवासियों को शौच की अनुपालना करना आवश्यक था। ब्रह्मचारी को पवित्रता का विशेष ध्यान देना होता था।

२.४.६ संयम धारण :-

संयम ब्रह्मचारी के लिए न केवल वाणी को कहा गया है अपितु उसे बाहुओं और पेट का भी संयम रखना चाहिए। ये तीनों बातें वर्तमान में भी प्रासंगिक है वाणी और बाहु पर संयम न होने पर निन्दा और कलह का पात्र बनना पड़ेगा, वहीं पेट पर संयम न होने पर अपरिमित भोजन करना स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होगा।

---

237. गुरूसमवाये भिक्षायामुत्पन्नायां यमनुबद्धस्तदधीनाभिक्षा। *आप. ध.* १/२/७/१४

238. प्रोषितो भैक्ष्यादग्नौ कृत्वा भुञ्जीत। *आप. ध.* १/१/३/४२

239. असंनिधौ तद्भार्यापुत्रसब्रह्मचारिभ्य:। *गौ. ध.* १/२/४६

240. वाग्यतस्तृप्यन्नलोलुप्यमानः संनिधायोदकम्। *गौ. ध.* १/२/४७

२.४.७ सत्य वक्ता :-

ब्रह्मचर्य आश्रम में सत्य का पालन ब्रह्मचारी का प्रथम कर्तव्य माना गया था। वह सत्यवक्ता एवं सत्यप्रेम के साथ जीवन यापन करता था। असत्य भाषण करने पर उसके लिए दण्ड का विधान बताया गया है। अतः वह सदैव सत्य बोलकर अपने जीवन में आगे बढता था और आचार्यों के साथ सत्यनिष्ठा से अपना कर्तव्य पूरा करता था।

२.५ निषेध आचार के प्रमुख नियम :-

जिस प्रकार ब्रह्मचर्य आश्रम में रहते हुए एक ब्रह्मचारी के कुछ कृत कार्य होते हैं वैसे ही उसके लिए जो न करने वाले कार्य कहे गये हैं वही उसके निषिध आचार हैं। बौधायन ने सनातक को झूला झूलने से मना किया है। उसका निर्वस्त्र स्नान करना वर्जित था तथा सूर्यास्त के पश्चात् स्नान न करें। अप्रचलित मार्ग पर जाने की मनाही थी। संशय वाली नौका पर न बैठना, पवित्र स्थानों की तरफ मुख कर शौच करना आदि मना था। वस्तुतः ये सारे निषिध नियम ब्रह्मचारी के स्वास्थ्य, सुरक्षा आदि को ध्यान में रख कर बनाये गये थे।

ब्रह्मचारी के लिए मधु, पशु - पक्षियों का माँस, सुगंधित पदार्थों का प्रयोग, दिन में शयन, आँखों में काजल लगाना, शरीर के अंगों में तेल या सुगन्धित लेप लगाना, रथ की सवारी, जूता, छाता, काम, क्रोध, लोभ, द्रव्य आदि की इच्छा करना, विवेक शून्यता अर्थात् मोह, अधिक भाषण, वीणा आदि वादन, आनन्द के लिए स्नान, दन्त धावन, खुशी प्रकट करना, नृत्य, गीत, दूसरों की निन्दा, भय के कर्म (जैसे गहन

जंगल में जाना) इन सबके परित्याग करने को कहा गया है।[241] ब्रह्मचारी को कभी भी सूर्य को नहीं देखना चाहिए।[242] गुरु के सामने ब्रह्मचारी को खखारना, हँसना, जम्हाई लेना और अंगुलियों को चटकाना इन कार्यों का भी निषेध कहा गया है।[243] गौतम धर्मसूत्र में कहा गया है कि मैथुन की इच्छा होने पर स्त्री (के अंगों) की तरफ (कामुकतापूर्वक) दृष्टिपात और उसका स्पर्श करना निषिद्ध है जबकि मैथुन की इच्छा न होने पर ऐसा करने में कोई दोष नहीं है।[244]

२.५.१ अपशब्द वर्जन :-

ब्रह्मचारी को अश्लील तथा दूसरों को पीड़ा देने वाले अपशब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए। ऐसा करना सर्वदा वर्जित है।[245] उसे अपनी वाणी पर संयम रखना चाहिए[246] अर्थात् अधिक नहीं बोलना चाहिए। जितनी आवश्यता हो उतना ही बोलना चाहिए।

२.५.२ जूआ :-

ब्रह्मचारी को जूआ खेलना, निम्नजाति के व्यक्ति की सेवा करना, बिना दान की वस्तु का ग्रहण तथा प्राणियों की हिंसा करना मना किया गया है।[247]

२.५.३ मादक पदार्थों का निषेधाचार :-

241.वर्जयन्मधुमांसगंधमाल्यदिवास्वप्नाञ्जनयानोपानच्छत्रकामक्रोधलोभमोहवादवादनस्नानदन्तधावनहर्षनृत्यगीतपरिवादभयानि। *गौ. ध.* १/२/१९

242. नाऽदित्यमीक्षेत। *गौ. ध.* १/२/१८

243. निष्ठीवितहसितविष्क (जृ) म्भितावस्फोटनानि। *गौ. ध.* १/२/२१

244. स्त्रीप्रेक्षेणालम्भने मैथुनशङ्कायाम्। *गौ. ध.* १/२/२२

245. शुक्लवाचो मद्यं नित्यं ब्राह्मणः। *गौ. ध.* १/२/२५

246. वाग्बाहूदसंयतः। *गौ. ध.* १/२/२७

247. द्यूतम् हीनसेवामदत्तादानं हिंसाम्। *गौ. ध.* १/२/२३

ब्रह्मचारी को सर्वदा मादक द्रव्यों का परित्याग करना चाहिए।[248] इसमें माँस, मदिरा, चटपटा पदार्थ, नमकीन, बासी भोजन आदि नहीं करना चाहिए। निषेधित कार्यों को नहीं करना चाहिए। जैसे - दिन में सोना, रथ आदि चलाना, घोड़े पर सवारी करना, मैथुन करना, अंजन लगाना, सुंगन्धित तेल का प्रयोग करना आदि। इनके प्रयोग से ब्रह्मचारी के नियमों में बाधा आ जाती थी। आचार्यों ने इन सभी कार्यों का ब्रह्मचारी के लिए निषेध किया है। इसके अतिरिक्त अधोलिखित कार्यों का वर्णन किया गया है।

- गुरु के सामने कण्ठ ढकना।
- गुरु के अत्यन्त निकट बैठना।
- जोर से हंसना।
- गुरु सम्मुख खरखराना।
- ऊकडु अवस्था में बैठना।
- जम्हाईयाँ लेना।

इस प्रकार से ब्रह्मचर्य आश्रम के नियमों का पालन बहुत ही कठिन था। ब्रह्मचारी को इन नियमों का ध्यान रखना पड़ता था।

२.५.४ वर्जित परिधान :-

स्नातक के लिए श्रेष्ठ वस्त्रों का प्रयोग करना वर्जित था। वह धोती, पायजामा आदि का प्रयोग करता था। उसके वस्त्र सामान्य होते थे। अधिक चमकीले वस्त्रों को धारण करना उसके लिए निषिद्ध था। उसको सामान्य वस्त्र धारण करना आनिवार्य था।

---

[248]. शुक्लवाचो मद्यं नित्यं ब्राह्मणः। *गौ. ध.* १/२/२५

२.५.५ सौन्दर्य प्रसाधनों का प्रयोग :-

स्नातक के लिए सौन्दर्य प्रसाधनों का प्रयोग वर्जित माना गाया था। उसके लिए गन्ध का लेप करना, गन्ध के तेल का प्रयोग करना, चन्दन प्रयोग करना वर्जित था। वह सदा गर्भिणी स्त्रियों एवं राजा तथा भार उठाये व्यक्तियों का मार्ग छोड़ देता था। यह उसका ब्रह्मचारी धर्म माना गया है।

२.५.६ निषध वाहन :-

ब्रह्मचारी के लिए यातायात के नियमों का पालन करना भी अत्यन्त कठिन था। उसके लिए गाय या बैल द्वारा संचालित वाहन पर बैठना निषिद्ध था। स्नातक ब्रह्मचारी गदहे से खींचे जाने वाले वाहनों पर नहीं बैठता था। विषम स्थान पर रथ में चढ़ना तथा उतरना भी निषिद्ध था। तीव्र गति वाली नौका या संशय उत्पन्न करने वाली नौका में सवारी करना भी ब्रह्मचारी के लिए निषिद्ध माना गया था।

२.५.७ निषध मार्ग :-

एकान्तवासी मार्ग पर जाना उसके लिए निषिद्ध था। श्मशान घाट में जाना, एकान्त जंगल में जाना, जुते हुए खेत में नहीं जाना आदि उसके लिए वर्जित मार्ग था। देवालय एवं पवित्र स्थानों की ओर मुख करके शौच करना उसके लिए निषिद्ध था।[249]

२.५.८ निषध दर्शन :-

स्नातक के लिए कतिपय दर्शन भी अशुभ माने गए थे। वह कुएँ और गड्ढे में नहीं झाँक सकता था। यह उसके लिए निषिद्ध था। उदय और अस्त सूर्य का दर्शन करना उसके लिए निषिद्ध था। स्त्री दर्शन एवं नग्न स्त्री उसके लिए पूर्णतः निषिद्ध थी।[250]

---

249. गौ.ध. १/९/१५

250. *वसि. ध.* , १२/१० , *वि. ध.,* ७१/२६

२.५.९ स्नान :-

ब्रह्मचारी सदैव शीतल जल से स्नान करता था। वह अल्प समय में स्नान करता था। गर्म जल से स्नान करना उसके लिए निषद्ध था। शौच से निवृत्त होकर स्नान कार्य करता था। उसके लिए निर्वस्त्र स्नान करना भी वर्जित माना गया था। सूर्यास्त के बाद भी वह स्नान नहीं कर सकता था।

२.५.१० भक्ष्य तथा अभक्ष्य :-

ब्रह्मचारी के लिए कन्दमूल फल एवं सामान्य भोजन करना उचित माना गया था। वह नशीले एवं नमकीन पदार्थों का सेवन नहीं कर सकता था। उसके लिए फल, दूध, दलिया आदि भक्ष्य माने गए थे जबकि अन्य नशीले या नमकीन पदार्थों को निषिद्ध माना गया था।

२.५.११ अन्य निषध कर्म :-

ब्रह्मचर्य आश्रम के लोकाचार में अकारण घास काटने, थूकना, सभा में शत्रु का नाम लेना, पक्षियों को गिनना तथा अन्न खाती हुयी गाय के विषय में खेत के स्वामी से कह देना आदि का निषेध किया गया था। [251]

२.५.१२ ब्रह्मचारी द्वारा प्रायश्चित :-

ब्रह्मचारी के द्वारा यदि किसी कारणवश अपने व्रत का खण्डन हो जाता है तो धर्मसूत्रों में उसके प्रायश्चित के लिए भी निर्देश मिलता है अर्थात् यदि कोई ब्रह्मचारी माँस भक्षण करता है, परस्त्री से सम्बन्ध रखता है अथवा अन्य किसी ब्रह्मचर्य नियम की अवहेलना करता है तो उसे घर के अन्दर अग्नि के ऊपर समिधा रखकर उसका उपसमाधान करना चाहिए, कुश घास को चारों तरफ फैलावें, अग्निमुख तक की (दार्विहोमिक) क्रियाओं को करते हुए घृत की आहुतियाँ इन मन्त्रों के साथ दे।

---

251. *आप. ध.* १/११/३२/२५

"कामेन कृतं कामः करोति कामायैवेदं सर्वं यो मा कारयति तस्मै स्वाहा। मनसा कृतं मनः करोति मनस एवेदं सर्वं योकारयति तस्मै स्वाहा। रजसा कृतं रजः करोति रजस एवेदं सर्वं यो मा कारयति तस्मै स्वहा।तमसा कृतं तमः करोति तमस एवेदं सर्वं यो मा कारयति तस्मै स्वहा।पाप्मना कृतं पाप्मा करोति पाप्मन एवेदं सर्वं यो मा कारयति तस्मै स्वहा।मन्युना कृतं मन्युः करोति मन्यव एवेदं सर्वं यो मा कारयति तस्मै स्वाहेति।"

२.६ ब्रह्मचारी का सामाजिक आचार और वर्तमान सन्दर्भ में उसकी प्रासंगिकता :-

इसमें कोई संदेह नहीं है कि उत्तम समाज का आधार शिक्षा, शिक्षार्थी (ब्रह्मचारी) तथा आचार्य पर निर्भर करता है। वैदिक साहित्य इस शिक्षण व्यवस्था का उत्तम उदाहरण प्रस्तुत करता है। इन सब का केन्द्र बिन्दु ब्रह्मचारी का लोकाचार एक महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करता है। सम्यक् प्रकार से शिक्षा ग्रहण करके, निषेध कार्यों का त्याग कर तथा उच्च आदर्शों का पालन कर समाज में नैतिक मूल्यों की स्थापना की जा सकती है।

वर्तमान समाज में शिक्षा और शिक्षण के तरीकों में बदलाव आ चुका है। आज का ब्रह्मचारी उच्च शिक्षा तो प्राप्त कर रहा है परन्तु नैतिक मूल्यों तथा समाज और देश के प्रति अपने कर्तव्यों से धीरे - धीरे विमुख होता जा रहा है। अतः आज ब्रह्मचारी (शिक्षार्थी) के वेदोक्त लोकाचारों के पुनर्पाठ की आवश्यकता अनुभव होती है।

॥ इति द्वितीय - अध्याय ॥

तृतीय अध्याय

गृहस्थ आश्रम में लोकाचार

तृतीय अध्याय

गृहस्थ आश्रम में लोकाचार

ब्राह्मचार्याश्रम के उपरान्त धर्मसूत्रों में गृहस्थ आश्रम का विधान मिलता है। लोक में गृहस्थाश्रम का विशेष महत्त्व बतलाया गया है। विवाह के बाद ही व्यक्ति ब्राह्मचार्याश्रम से गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है। चारों आश्रमों का मूल गृहस्थाश्रम कहा गया है। धर्मशास्त्रकारों ने इस आश्रम की अत्यधिक प्रशंसा की है। गौतम तथा बौधायन आचार्य ने इस आश्रम को अन्य सब आश्रमों का उपजीव्य अर्थात् मूल आधार स्वीकृत किया है क्योंकि अन्य आश्रमों में पुत्रोत्पत्ति नहीं होती।[252] आपस्तम्ब ने चारों आश्रमों में सर्वप्रथम इसी आश्रम का उल्लेख किया है।[253] वर - वधू जैसे ही विवाह के पवित्र बन्धन में बन्धते थे, वैसे ही गृहस्थाश्रम में प्रवेश प्राप्त कर गृहस्थी कहे जाते थे। विवाह के उपरान्त गृहस्थ बने व्यक्ति पर अनेक प्रकार के कर्तव्य एवं उत्तरदायित्वों के निर्वहन करने होते थे। समाज को उनसे बहुत अपेक्षाएँ होती थी। मनु ने गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठता को स्वीकार करते हुए कहा है कि ब्राह्मचारी, वानप्रस्थी, भिक्षुक ये तीनों ही गृहस्थों के द्वारा नित्य ज्ञान और अन्न से प्रतिपालित होते हैं।[254]

मनु के मत में इसके महत्त्व पर लिखा है कि ब्राह्मचर्य, वानप्रस्थ, तथा यति ये तीनों आश्रम गृहस्थ आश्रम से उत्पन्न हुए हैं। वेद और स्मृति से चलने वाला गृहस्थ आश्रम श्रेष्ठ है क्योंकि गृहस्थ आश्रम तीनों आश्रम का पालनकर्ता है।

---

252. ऐकाश्रम्यं त्वाचार्या: प्रत्यक्षविधानाद् गार्हस्थ्यस्य।, *गौ. ध.* १/३/३५, *बौधा. ध.* २/६/११/२९

253. चत्वार आश्रमा गार्हस्थ्यम्,आचार्यकुलं, मौनं, वानप्रस्थ्यमिति।, *आप. ध.* २/९/२१/१

254. "यस्मात्त्र्योऽप्या श्रमिणो ज्ञानेन्नान्नेन चान्वहम्। गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्यष्ठाश्रमी गृही।।" *मनु.* ३/७८

जिस प्रकार सभी बड़ी और छोटी नदियाँ समुद्र में जाकर मिलती हैं, उसी प्रकार तीनों आश्रम गृहस्थाश्रम में ही आश्रय प्राप्त करते हैं।[255] इस गृहस्थाश्रम में प्रवेश विवाह से ही होता है। इसलिए सभी संस्कारों में विवाह संस्कार को सर्वोत्कृष्ट स्थान प्राप्त है क्योंकि यह अन्य आश्रमों का उपजीव्य है। इसके महत्त्व के विषय में स्पष्ट कहा गया है कि **" ऐक्याश्रम्यं त्वाचार्याः प्रत्यक्षविधानाद् गार्हस्थ्यस्यैव "**[256] गृहस्थाश्रम का प्रारम्भ विवाह संस्कार से होता है। विवाह का वैदिक संस्कारों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। वैदिक काल में ही वैवाहिक रीति-रिवाजों का विकास हो चुका था। ऋग्वेद[257] तथा अथर्ववेद[258] में उस के लिए काव्यात्मक अभिव्यक्ति प्राप्त होती है। धार्मिक चेतना का विकास होने पर विवाह केवल सामाजिक आवश्कता ही नहीं अपितु वह प्रत्येक व्यक्ति का एक अनिवार्य धार्मिक कर्तव्य समझा जाने लगा। तैत्तिरीय ब्राह्मण में विवाह न करने वाले पुरुष के लिए अयज्ञीय कहा गया है।[259]

अतः विवाह को यज्ञ के समान माना गया है। पुरुष को एकाकी अधूरा कहा गया है, पत्नी उसका अर्धभाग है।[260] मनुस्मृतिकार ने तो स्पष्ट कहा है कि गृहस्थ आश्रम में यज्ञ का सम्पादन करके पुत्र उत्पत्ति के बाद ही संन्यास ग्रहण करें और यदि कोई ऐसा नहीं करता है तो वह अधोगति को प्राप्त होता है।[261]

---

255. ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा। एते गृहस्थप्रभवाश्चत्वारः पृथगाश्रमाः॥ सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः। गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः त्रीनेतान्विभतिर्हि॥ यथा नदिनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितम्। तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितम्।। *मनु.* ६/८७, ८९-९०, *वसि. ध.* ८/१५

256. *गौ.ध.* १/३/३५

257. *ऋ.* -१/१०/८५

258. *अथर्व.* -१४/१/२

259. 'अयज्ञीयो वा एष योऽपत्नीकः।' *तै.ब्रा.* २/२/२/६

260. अथो अर्धो वा एष आत्मनः यत् पत्नीः। *तै.ब्रा.* ,२/९/४/७

261. *मनु.* ६/३६ - ३७

इस प्रकार विवाह जैसे पवित्र संस्कार का समाज में महत्त्वपूर्ण स्थान रहा ही है। ऋग्वेद के विवाह सूक्त में पाणिग्रहण विधि, वैवाहिक प्रतिज्ञायें, पति - पत्नी सम्बन्ध, योग्य सन्तति का निर्माण, दाम्पत्य जीवन का उदात्त स्वरूप देखने को मिलता है।

३.१ गृहस्थ आश्रम में वर्णित वैवाहिक लोकाचार :-

पाणिग्रहण (विवाह) करते समय पति के मुख से कहलाये गये ऋग्वेद के इन उक्त उद्गारों से ऋग्वेदीय जीवन की वैवाहिक कल्पना की उदत्तता का पता चलता है। धर्मसूत्र जो **'वेदो धर्ममूलम् '**[262] के पोषक हैं। यहाँ पर गृहस्थाश्रम के लिए वैवाहिक लोकाचार तथा विवाह उपरान्त पति - पत्नी का दाम्पत्य जीवन के माध्यम से देश समाज के प्रति उत्तरदायित्व आदि आचारों का वर्णन किया जा रहा है।

३.१.१ वैवाहिक लोकाचार :-

विवाह शब्द की उत्पत्ति संस्कृत के 'वि' उपसर्ग पूर्व 'वह् प्रापणे' धातु से घञ् प्रत्यय करने से हुयी है जिसका अर्थ है 'विशेष रूप से वहन करना अथवा ढ़ोना'।[263] इस प्रकार विवाह से अभिप्राय किसी पुरुष द्वारा किसी कन्या को उसके घर से अपनी पत्नी बना कर ले जाना। जिस विधि से पत्नी बनती है, वह विवाह है। संस्कृत साहित्य में भी इसके लिए अनेक शब्द मिलते हैं जैसे परिणय, उद्वाह, उपमय तथा पाणिग्रहण आदि। परिणय का अर्थ है - अग्नि के चारों ओर परिक्रमा करना। उद्वाह का अर्थ है - वधू को उसके घर से उच्चता के साथ ले जाना। उपमय का अर्थ है - नजदीक लाकर अपना बनाने से है, तथा पाणिग्रहण का अर्थ है - वधू का हाथ ग्रहण करना अर्थात्

---

262. *गौ.ध.* १/१/१

263. 'विवाहो विशिष्टं वहनम्', *शब्दकल्पद्रुम*, ४/४२७

जीवन भर के लिए हाथ पकड़ वैवाहिक आचारों का पालन करना, हमेशा साथ साथ रहना।

लेकिन डॉ. पी. वी. काणे महोदय के अनुसार यद्यपि इन शब्दों से विवाह संस्कार के केवल एक अंश मात्र का ज्ञान होता है तथापि शास्त्रों में इन सब का प्रयोग वैवाहिक संस्कारों की समष्टि की सूचना देने के अर्थ में ही लिया गया है।[264]

के.एम. कापड़िया के अनुसार धर्मशास्त्रों में विवाह जन्म - जन्मान्तर तक चलने वाला एक पवित्र धार्मिक संस्कार माना गया है। जिसमें पति पत्नी जीवन के प्रमुख लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करने का संयुक्त प्रयास करते हैं।[265] इसमें कोई संदेह नहीं है कि विवाह से अभिप्राय स्त्री- पुरुष को काम सम्बन्धी कानूनी मान्यता लेकिन केवल सम्बन्ध स्थापित करना विवाह का उद्देश्य नहीं है इसके अतिरिक्त अन्य महत्त्वपूर्ण उद्देश्य होते हैं।

३.१.२ वैवाहिक उद्देश्य :-

आपस्तम्ब के अनुसार स्त्री और पुरुष में विभाग नहीं हो सकता। उनका सम्बन्ध अविच्छेद्य है क्योंकि पाणिग्रहण के समय से ही इनका धार्मिक कार्यों में सहयोग आवश्यक है, वे सभी कर्मों में एक साथ होते हैं।[266] आपस्तम्ब में अन्यत्र द्वितीय विवाह का निषेध करते हुए कहते हैं कि यदि प्रथम स्त्री पुत्र और धार्मिक कार्यों से युक्त है तो पुरुष को दूसरा विवाह नहीं करना चाहिए।[267] इस प्रकार आपस्तम्ब यह स्पष्ट करते हैं कि उनके समय में विवाह के दो प्रमुख उद्देश्य पुत्र की प्राप्ति तथा धर्मसम्पादन था।

---

264. काणे, पी.वी., *ध. शा. इति.,* भाग -१, पृ. २६८

265. कापड़िया, के.एम., *भारतवर्ष में विवाह एवं परिवार*, पृ.१६८

266. जायापत्योर्न विभागो विद्यते। पाणिग्रहणाद्धि सहत्त्वं कर्मसु। *आप. ध.* २/६/१४/१६-१७

267. धर्मप्रजासम्पन्ने दारे नाऽन्यां कुर्वीत। *आप. ध.* २/६/११/१२

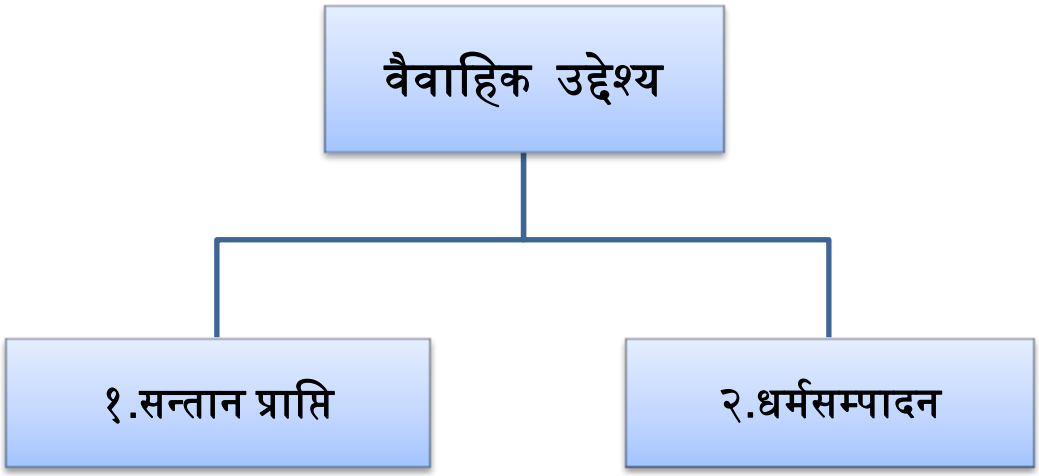

३.१.२.१ सन्तान प्राप्ति :-

विवाह उद्देश्यों में सन्तान प्राप्ति एक भी मुख्य उद्देश्य है। सन्तान प्राप्ति के महत्त्व की धर्मसूत्रकारों ने अत्याधिक प्रशंसा की है। बौधायन के अनुसार पुत्र की उत्पत्ति से पुरुष इस लोक को जीतता है, पौत्र के माध्यम से अमृत प्राप्त करता है और पुत्र के पौत्र को देखकर स्वर्ग को प्राप्त कर लेता है।[268] वह वंश को बढ़ाने वाला होता है। वही आपस्तम्ब के अनुसार पुत्र वेदोक्त शिष्ट कर्मों का सम्पादन करते हुए जीवन व्यतीत करते हैं वे अपने पूर्वजों के यश तथा स्वर्गीय सुख की अभिवृद्धि करते हैं। इस प्रकार प्रत्येक अगली पीढ़ी अपनी पूर्ववर्ती पीढ़ी के पुरुषों के सुख और यश प्राप्त कराती है।

अतः पुत्र वाले कालगत पुरुष महाप्रलय तक स्वर्ग में निवास करते हैं और स्वर्ग के जेता होते हैं।[269] विष्णु ने पुत्र के विषय में कहा है कि पुत्र अपने पिता की 'पुत' नामक नरक से रक्षा करता है इसलिए वह पुत्र कहलाता है।[270]

---

[268]. पुत्रेण लोकान् जयति पौत्रेणाऽमृतमश्नुते। अथ पुत्रस्य पौत्रेण नाकमेवाऽधिरोहतीति॥ *बौधा. ध.* २/९/१६/६

[269]. ते शिष्टेषु कर्मसु वर्तमानाः पूर्वेषां साम्परायेण कीर्तिं स्वर्गं च वर्धयन्ति। एवमवरोऽवरः परेषाम्। आभूतसम्प्लवात्ते स्वर्गजितः। *आप. ध.* २/९/२४/३-५

साथ ही उनका यह भी कहना है कि पिता अपना ऋण पुत्र को देता है यदि वह जीवित पुत्र का मुख देख लेता है तो अमरत्व को प्राप्त कर लेता है।[271] वसिष्ठ ने भी विष्णु के समर्थन में कहा है कि पिता अपना ऋण अपने पुत्र को देता है और यदि वह अपने जीवित पुत्र का मुँह देख ले, तो अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है। उनके अनुसार पुत्र वालों के लिए अनन्त लोक हैं लेकिन पुत्रहीन के लिए कोई लोक नहीं होता। साथ ही उनका यह भी कथन है कि पुरुष पुत्र प्राप्ति से विविध लोकों को जीतता है, पौत्र से उन लोकों का दीर्घ काल तक उपभोग करता है तथा सूर्य लोक को प्राप्त करता है।[272]

वैखानस के अनुसार नीच पुत्रों के उत्पन्न होने पर व्यक्ति पतित और भ्रष्ट होकर घोर नरकों की यात्रा करता है जबकि सत्पुत्र अपने पितरों को नरकों से मुक्त कर, उन्हें उत्तम लोकों में ले जाता है। इसलिए ब्राह्मण तथा क्षत्रिय आदि वर्णों को समान वर्ण वाली स्त्री से विवाह करके विधिपूर्वक सन्तान को उत्पन्न करना चाहिए।[273] मनु तथा याज्ञवल्क्य ने भी पुत्र की महत्ता का गुणगान किया है। मनु के अनुसार पिता पुत्र से स्वर्ग आदि उत्तम लोकों को प्राप्त करता है, पौत्र से उन लोकों में अनन्त काल तक निवास करता है और प्रपौत्र से सूर्यलोक को प्राप्त करता है।[274]

---

[270]. पुत्राम्नो नरकाद्यस्मात्पितरं त्रायते सुतः। तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयंभुवाः॥ *वि. ध.* १५/४४

[271]. ऋणमस्मिन्संनयत्यमृत्तत्वं च गच्छति। पिता पुत्रस्य जातस्य पश्येच्चेज्जीवतो मुखम्।। वही, १५/४५

[272]. ऋणमस्मिन्सन्नयत्यमृत्तत्वं च गच्छति। पिता पुत्रस्य जातस्य पश्येच्चेज्जीवतो मुखम्। अनन्ताः पुत्रिणां लोका नापुत्रस्य लोकोस्तीति श्रूयते। अथ पुत्रस्य पौत्रेण ब्रध्नस्याप्नोति विष्टपमिति॥ *वसि. ध.* १७/१-२,५

[273]. *वैखा. ध.* ३/१५/१२-१४

[274]. पुत्रेण लोकान् जयति पौत्रेणानन्त्यमश्नुते। अथ पुत्रस्य पौत्रेण ब्रध्नस्याप्नोति विष्टपम्॥ *मनु.* ९/१३७

याज्ञवल्क्य के अनुसार पुत्र, पौत्र तथा प्रपौत्र से इस लोक में वंश अविच्छिन्न बना रहता है तथा स्वर्ग की प्राप्ति होती है।[275]

इस प्रकार ज्ञात होता है कि प्रायः सभी धर्मसूत्रकारों ने पुत्र की प्राप्ति पर अत्यधिक बल दिया है साथ ही पुत्र प्राप्ति को एक धार्मिक कर्तव्य माना है। चूँकि पुत्र की प्राप्ति विवाह के पश्चात् ही सम्भव है इसलिए विवाह का एक प्रमुख उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति माना जाता था। परवर्ती साहित्यकारों ने भी पुत्र प्राप्ति के महत्त्व को स्वीकार किया है।

३.१.२.२ धर्म सम्पादन :-

जिसमें व्यक्ति के स्वधर्म का पालन करते हुए जीविकोपार्जन करना, अपनी पत्नी में ही अनुरक्त रहना अर्थात् उसी से सम्बन्ध रखना, उसी से सन्तान उत्पन्न करना, अतिथियों का सत्कार करना, मित्रों, पड़ोसियों तथा सम्बन्धियों के प्रति अपने कर्त्तव्यों को पूरा करना, दु:खी, रोगी, निर्धन, विद्याध्ययनरत व्यक्तियों की सहायता करना, वेदों का अध्ययन करना, ऋण त्रय से उऋण होना, यज्ञ करना, दान देना, श्राद्धकर्म, नित्य और नैमित्तिक आदि कर्मों को करना गृहस्थी के प्रमुख आचार थे। इन सभी कर्मों को अपना धर्म मानकर पति - पत्नी दोनों मिलकर सम्पादन करते थे।

व्यक्ति जो कुछ भी कमाता था उससे वह न केवल अपने और अपने परिवार के लिए जीवन निर्वाह करता था अपितु समाज के लिए भी इसका उपयोग करता था। गृहस्थ से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह पहले अतिथियों, देवताओं, पितरों, ब्राह्मचारियों, वानप्रस्थियों, संन्यासियों एवं भृत्यों को भोजन दे और शेष जो बचे उस से अपना निर्वाह करे।

ऐसा माना जाता था कि अकेला व्यक्ति यज्ञादि धार्मिक कर्तव्य करने के अयोग्य है इसलिए वह विवाह के बाद गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर इन कार्यों को

---

275. लोकानन्त्यं दिवः प्राप्तिः पुत्रपौत्रप्रपौत्रकैः। *याज्ञ. स्मृ.* १/७८

सम्पादित करता था। इस प्रकार गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने पर गृहस्थ पारिवारिक, सामाजिक तथा धार्मिक नियमों तथा कर्तव्यों का पालन करते थे और समाज को सशक्त गतिशील तथा आदर्श बनाने में अपना योगदान देते थे। जैसा की बौधायन ने कहा है कि पाणिग्रहण के बाद पति और पत्नी दोनों को गृहस्थाश्रम के कर्मों का सम्पादन करना चाहिए।[276] ये नियम तथा कर्तव्य उनके भावी जीवन का हिस्सा बन जाते थे। सर्वप्रथम गृहस्थ आश्रम के लिए आवश्यक विवाह धर्मसूत्रों में आठ प्रकार के कहे गये हैं।

बौधायन धर्मसूत्र में गृहस्थियों की दो श्रेणियों का उल्लेख मिलता है, शालीन तथा यायावर।[277] काणे महोदय के अनुसार शालीन घर में रहते थे, उनके पास नौकर - चाकर पशु आदि होते थे, वे स्थिर रूप से किसी ग्राम में रहते थे, उनके पास अन्न एवं सम्पत्ति होती थी और वे सांसारिक जीवन व्यतीत करते थे। जबकि यायावर अत्युत्तम जीविका वाले होते थे, वे खेत से ले जाते समय जो अन्न पृथिवी पर गिर जाता था, उसे ही चुनते थे, सम्पत्ति नहीं जोड़ते थे, न पौरोहित्य कर्म करते थे, न अध्यापन कार्य करते थे और न ही दान लेकर जीविका चलाते थे।[278] धर्मसूत्रों में वर्णित गृहस्थों द्वारा सम्पादित आचारों का विस्तार पूर्वक वर्णन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

३.१.३ कुल सम्बन्धित लोकाचार:-

प्रायः समाज में आज जिस प्रकार देखने को मिलता है कि विवाह से पूर्व वर वधू दोनों पक्षों के लोग एक - दूसरे के कुल, गोत्र की पूर्ण जानकारी प्राप्त करते हैं, इसी प्रकार धर्मसूत्रीय काल में भी यह किया जाता था। वर - वधू दोनों पक्षों के लोग

---

276. पाणिग्रहणादधि गृहमेधिनोर्व्रतम्। *बौधा. ध.* २/१/१/१

277. शालाश्रयत्वाच्छालीनत्वमी। वृत्त्या वरया यातीति यायावरत्वम्। अनुक्रमचरणाच्चक्रचरत्वम्। *बौधा. ध.* ३/१/१/३

278. काणे, पी.वी., *धर्म. शा. इति.*, भाग -१, पृ. ३५५-३५६

एक - दूसरे के कुल,गोत्र अथवा वंश की पूर्ण जानकारी प्राप्त करके विवाह निर्धारित करते थे। धर्मसूत्रकारों के इस विषय पर भिन्न - भिन्न मत दिये हैं। गौतम के अनुसार समान जाति तथा समान कुल वाली कन्या से विवाह करना चाहिए।[279] जबकि वसिष्ठ के अनुसार व्यक्ति को उच्च कुल की स्त्री से विवाह करना चाहिए क्योंकि विद्या के नष्ट होने पर उसे पुनः प्राप्त किया जा सकता है परन्तु कुल का नाश होने पर सर्वनाश हो जाता है।[280]

मनु के अनुसार अपने कुल का उत्कर्ष चाहने वाले व्यक्ति को उत्तमोत्तम व्यक्तियों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने चाहिए और अधम लोगों के साथ सम्बन्धों का त्याग करना चाहिए।[281] जबकि याज्ञवल्क्य ने तो संक्रामक रोगों से पीड़ित कुल को विवाह के अयोग्य माना है।[282]

कुल के सम्बन्ध में हारीत का कथन है कि कुल के अनुरूप ही प्रजाएँ (सन्तानें)उत्पन्न होती हैं इस प्रकार जैसा कुल होगा, उस कुल में वैसी ही सन्तानें उत्पन्न होंगी।[283] अतः कुल की रक्षा के लिए विवाह से पूर्व वर - वधू दोनों पक्षों के लोग एक - दूसरे के कुलगत गुणों और विशेषताओं से परिचित हो जाते थे।

३.१.४ योग्य वधू हेतु लोकाचार :-

वैवाहिक जीवन आनन्दमय तथा मंगलमय हो इसलिए विवाह से पूर्व न केवल कुल देखा जाता था अपितु वर - वधू की व्यक्तिगत योग्यता एवं गुणों पर भी ध्यान दिया जाता था। वधू पक्ष के लोग जहाँ योग्य वर तलाश करते थे, वहीं वर पक्ष योग्य

---

279. गृहस्थः सदृशीं भार्यां विन्देतानन्यपूर्वा यवीयसीम्। *गौ. ध.* १/४/१

280. विद्या प्रणष्टा पुनरभ्युपैति कुलप्रणाशे त्विह सर्वनाशः। कुलापदेशेन हयोपि पूज्यस्तस्मात्कुलीनां स्त्रियमुद्वहन्तीति॥ *वसि. ध.* १/३८

281. उत्तमैरुत्तमैर्नित्यं सम्बन्धानाचरेत्सह। निनीषुः कुलमुत्कर्षमधमानधर्मस्त्यजेत्॥ *मनु.* ४/२४४

282. स्फीतादपि न संचारिरोगदोषसमन्वितात्। *याज्ञ. स्मृ.* १/५४

283. कुलानुरूपाः प्रजा सम्भवन्तीति। *वीरमित्रोदय*, भाग-२, पृ. ५८९

कन्या देखते थे। योग्य वधू न केवल अपने पति के सम्मान का कारण बनती थी अपितु सारे परिवार और कुल के मान सम्मान का भी कारण बनती है। गौतम के अनुसार गृहस्थ अपने समान जाति तथा कुल वाली, पहले वाग्दान द्वारा भी किसी को न दी गयी तथा अपने से कम आयु की कन्या से विवाह करें।[284] आश्वलायन के अनुसार ऐसी कन्या से विवाह करना चाहिए जो योग्य एवम् अनुकूल हो, जो बन्धु - बान्धवों से युक्त हो, जो शील - स्वाभाव से सम्पन्न तथा शुभ लक्षणों से युक्त एवं रोगों से मुक्त हो।[285]

वसिष्ठ के अनुसार ऐसी कन्या के साथ विवाह करना चाहिए, जो अनग्निका तथा लज्जाशील हो।[286] गौतम के अनुसार पिता के मानसिक विचार मात्र से ही कन्या पुत्रिका हो जाती है।[287] इस प्रकार की लड़की का पुत्र न तो अपने पिता का पिण्डदान करता था और न ही अपने पिता के कुल को चलाने वाला होता था। वसिष्ठ धर्मसूत्र में उद्धृत एक श्लोक में पिता अपने होने वाले जमाता से कहता है कि इस भ्रातृहीन कन्या को मैं तुम्हें देता हूँ परन्तु इस से जो पुत्र उत्पन्न होगा वह मेरा पुत्र होगा।[288] इस तरह पिता के पिण्डदान से वंचित रह जाने के भय से बिना भाई की कन्या से विवाह अच्छा नहीं समझा जाता था। गौतम ने कहा भी है कि इस प्रकार की कन्या से विवाह नहीं करना चाहिए जिसके कोई भाई न हो।[289] इस प्रकार धर्मसूत्रों में योग्य वधू के लिए विभिन्न प्रकार लोकाचार प्रचलित था।

---

284. गृहस्थः सदृशीं भार्यां विन्देतानन्यपूर्वां यवीयसीम्। *गौ. ध.* १/४/१

285. बन्धुशीललक्षणसम्पन्नामरोगामुपयच्छेत्। *आ. गृ. सू.* १/५/३

286. अनग्निकानुदक्या वामृतमिति विज्ञायते। *वसि. ध.* ५/२

287. अभिसंधिमात्रात्पुत्रिकेत्येकेषाम्। *गौ. ध.* ३/१०/१७

288. अभ्रातृकां प्रदास्यामि तुभ्यं कन्यामलंकृताम्। अस्यां यो जायते पुत्रः स मे पुत्रो भवेदिति॥ *वसि. ध.*१७/१७

289. तत्संशयान्नोपयच्छेदभ्रातृकाम्। वही, ३/१०/१८

३.१.५ योग्य वर हेतु लोकाचार :-

वधू के समान विवाह से पूर्व वर के भी गुण तथा योग्यता देखकर विवाह किया जाता था। वर का ब्राह्मचारी होना तथा कम से कम एक वेद के अध्ययन के उपरान्त समावर्तन संस्कार के बाद ही वह गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता था। अभिप्राय यह है कि वर के पास चार वेदों में से एक वेद ज्ञान होना अनिवार्य था। वर्तमान में भी वधु पक्ष के लोग पढ़ा लिखा वर ही खोजते हैं।

३.१.६ वैवाहिक आयु :-

धर्मसूत्रों में विवाह करने के पूर्व वर - वधू की आयु पर विचार विमर्श किया जाता था। सामान्यतः मनुष्य ब्राह्मचर्याश्रम के पश्चात् गुरु की आज्ञा प्राप्त कर विवाहोपरान्त गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था। ब्राह्मचर्याश्रम का प्रारम्भ उपनयन संस्कार से होता है।

इस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य का उपनयन संस्कार क्रमशः ८, ११ तथा १२ वर्ष की आयु में करने का विधान था[290] साथ ही तीनों वर्णों को क्रमशः १६, २२ तथा २४ वर्ष तक उपनयन का समय रहता है तब तक सावित्री (विद्या) च्युत नहीं होती थी।[291] वेदाध्ययन से पूर्व उपनयन संस्कार किया जाता है। गौतम के अनुसार एक वेद के अध्ययन के लिए बारह वर्ष तक ब्राह्मचर्य का आचरण करे और यदि चारों वेदों का अध्ययन करने में समर्थ हो तो प्रत्येक वेद के लिए बारह वर्ष तक गुरुकुल में निवास करे।[292]इस प्रकार स्पष्ट होता है कि ब्राह्मण की आयु विवाह के समय २० वर्ष से कम की नहीं होती थी। इसी प्रकार क्षत्रिय और वैश्य जिनका उपनयन ११ और १२ वर्ष की आयु में होता था विवाह के समय उनकी आयु क्रमशः

---

290. उपनयनं ब्राह्मणस्याष्टमे। एकादशद्वादशयोः क्षत्रियवैश्ययोः। *गौ. ध.* १/१/६,१२,

291. आ षोडशाद् ब्राह्मणस्यापतिता सावित्री। द्वाविंशते राजन्यस्य द्वयमधिकाया वैश्यस्य। वही,१/१/१३-१४

292. द्वादश वर्षाण्येकवेदे ब्रह्मचर्य चरेत्। प्रतिद्वादश वा सर्वेषु। वही, १/२/५१-५२

२३ तथा २४ वर्ष से कम नहीं होती थी, चूँकि उपनयन के बाद एक वेद के अध्ययन में कम से कम १२ वर्ष लगते थे। एक तरफ जहाँ वर का विवाह ब्राह्मचर्याश्रम के कर्त्तव्यों को पूरा कर लेने के पश्चात् ही होता था परन्तु कन्या के आयु के विषय में धर्मसूत्रकार एक मत नहीं थे।

गौतम के अनुसार पिता को अपनी कन्या का विवाह उसके ऋतुकाल से पूर्व ही कर देना चाहिए परन्तु जो पिता किसी कारणवश तीन ऋतुकाल बीत जाने पर भी अपनी कन्या का विवाह नहीं कर पाते हैं तो वह कन्या पिता के कुल से प्राप्त अलंकारों का त्याग कर स्वयं ही अपने अनुकूल उत्तम (कुल, विद्या और शील आदि से युक्त) वर का वरण कर ले। इसलिए कहा गया कि कन्या का विवाह उसके ऋतुकाल अर्थात् रजोदर्शन के पहले ही कर देना चाहिए। उक्त समय से कन्या का विवाह न करने वाला पिता दोष का भागी होता है।[293]

अन्य आचार्यों के मत को भी प्रस्तुत करते हुए उन्होंने कहा है कि कन्या के वस्त्र पहनने अथवा लज्जा करने की अवस्था से पूर्व ही उसका दान कर देना चाहिए।[294]

बौधायन के अनुसार भी जब कन्या नग्निका (नंगी) ही घूमती हो अर्थात् लज्जा भाव से शून्य अत्यन्त अल्प अवस्था में, तभी उसका विवाह किसी गुणवान् ब्राह्मचारी के साथ कर देना चाहिए लेकिन यदि गुणवान् न मिले तो गुणहीन व्यक्ति को भी विवाह में कन्या दे देनी चाहिए। किन्तु उसके रजस्वला होने पर अपने घर में रखना उचित नहीं है।[295] जो इसके विपरीत आचरण करता है वह पिता दोष का भागी होता है, साथ ही उन्होंने यह भी कहा है कि जो पिता अपनी ऋतुमती कन्या

---

293. त्रीन्कुमार्यृतूनतीत्य स्वयं युज्येतानिन्दितेनोत्सृज्य पित्र्यानलंकारान्। प्रदानं प्रागृतोः। अप्रयच्छन्दोषी। वही, २/९/२०-२२

294. प्राग्वाससः प्रतिपत्तेरित्येके। वही,२/९/२३

295. दद्याद्गुणवते कन्यां नग्निकां ब्रह्मचारिणे। अपि वा गुणहीनाय नोपरुन्ध्याद्रजस्वलाम्॥ *बौधा. ध.* ४/१/१०/१२

को तीन वर्ष के अन्दर विवाह नहीं करता है, वह निश्चय ही भ्रूणहत्या के समान पाप का भागी होता है।[296]

वसिष्ठ के मत में पिता को कन्या के ऋतुमती होने से पूर्व ही विवाह कर देना चाहिए जब वह नग्न घूमने में लज्जा न महसूस करती हो। लेकिन यदि ऋतुमती कन्या अपने पिता के घर में निवास करती है और समान जाति के पुरुष के साथ विवाह की इच्छुक होती है तो ऐसी कन्या के माता - पिता भ्रूण हत्या के समान दोषी होते हैं।[297] साथ ही वह यह भी कहते हैं कि ऋतुमयी होने के पश्चात् तीन वर्ष तक प्रतीक्षा करे, फिर स्वयं अपने पति का वरण कर ले और भी जो पिता विवाह योग्य कन्या की आयु बीत जाने पर भी उसके विवाह में प्रमाद करता है।

इस समय वह कन्या को उसी प्रकार नष्ट कर देता है जिस प्रकार समय बीतने पर गुरु दक्षिणा देना शिष्य को नष्ट कर देता है[298]

विष्णु धर्मसूत्र के अनुसार कन्या ऋतुमयी होने के पश्चात् तीन माह के अन्दर तक प्रतीक्षा करे और फिर स्वयं अपने पति का वरण कर ले।[299] यदि कोई कन्या वाग्दान के पूर्व ही अपने पिता के घर पर रजस्वला हो जाती है तो वह कन्या वृषली कहलाती है और जो व्यक्ति उसके सपिण्डों की अनुमति के बिना उससे विवाह करता है तो वह गलत नहीं करता है।[300]

---

296. त्रीणि वर्षाण्यृतुमतीं यः कन्यां न प्रयच्छति। स तुल्यं भ्रुणहत्यायै दोषमृच्छत्यसंशयम्॥ वही, ४/१/१०/१३

297. *वसि. ध.* १७/७०-७१

298. पितुः प्रमादात्तु यदीह कन्या वयः प्रमाणं समतीत्य दीयते। सा हन्ति दातारमुदीक्षमाणा कालातिरिक्ता गुरुदक्षिणेव॥ वही, १७/६९

299. ऋतुत्रयमुपास्यैव कन्या कुर्यात्स्वयं वरम्। ऋतुत्रये व्यतीते तु प्रभवत्यात्मनःसदा॥ *वि. ध.* २४/४०

300. पितृवेश्मनि या कन्या रजः पश्यत्यसंस्कृता। सा कन्या वृषली ज्ञेया हरंस्तां न विदुष्यति॥ वही, २४/४१

के. एम. कापड़िया के अनुसार धर्मसूत्रों के अध्ययन से हम यह परिणाम निकाल सकते हैं कि इस समय तक एक ऐसी प्रवृति चल पड़ी थी जो वयस्क होते ही कन्याओं के विवाह के पक्ष में प्रमुख रूप से थी। लेकिन इस से हम यह अनुमान भी निश्चित रूप से नहीं निकाल सकते कि बाल विवाह उस समय की प्रथा हो चली थी।[301]

३.१.७ सपिण्ड, सगोत्र, सप्रवर सम्बन्धी आचार :-

धर्मसूत्रों में विवाह करने से पूर्व न केवल वंश, कुल, वर - वधू की योग्यता को देखा जाता था अपितु इनके साथ - साथ सगोत्र, सपिण्ड, सप्रवर आदि का भी विशेष ध्यान रखा जाता था। प्रायः सभी धर्मसूत्रकारों के मत में समान गोत्र, प्रवर तथा पिण्ड में विवाह करने का निषेध किया है और जब विवाह सगोत्र, सप्रवर और सपिण्ड के बाहर किया जाता है, उसे बहिर्विवाह कहते है। वेद के यम - यमी सूक्त (आख्यान) में इस तथ्य का स्पष्ट निर्देश प्राप्त होता है।

३.१.७.१ सपिण्ड :-

प्रायः पिण्ड शब्द का अर्थ है - एक शरीर के अवयवों अथवा अंशों को रखने वाला। पी.वी. काणे महोदय ने सपिण्ड शब्द को स्पष्ट करते हुए कहा है कि "सपिण्डता का तीन बातों में विशिष्ट महत्त्व है, यथा विवाह, वसीयत एवं अशौच।

सपिण्ड कन्या से विवाह सभी वर्णों में वर्जित है। सपिण्ड के अर्थ के विषय में दो सम्प्रदाय हैं, एक मिताक्षरा का और दूसरा जीमूतवाहन (दायभाग के लेखक) का।

दोनों के मत से सपिण्ड कन्या से विवाह नहीं हो सकता किन्तु 'सपिण्ड' शब्द के अर्थ में दोनों के दो विचार हैं। याज्ञवल्क्य (१/४२-४३) की व्याख्या में विज्ञानेश्वर "असपिण्डा" उस नारी को कहते हैं जो सपिण्ड नहीं है, और "सपिण्ड" का तात्पर्य यह

---

301. कापड़िया, के.एम., *भारतवर्ष में विवाह एवं परिवार*, पृ.१४५

है कि उस व्यक्ति का वही पिण्ड (शरीर या शरीर का अवयव) है। दो व्यक्तियों के सपिण्ड - सम्बन्ध का तात्पर्य यह है कि दोनों में समान शरीर के अवयव हैं। इस प्रकार पुत्र का पिता से सपिण्ड सम्बन्ध है क्योंकि पिता के शरीर के कण (शरीरांश) पुत्र में आ जाते हैं। इसी प्रकार पितामह और पौत्र में सपिण्ड सम्बन्ध है। इसी प्रकार पुत्र का माता से सपिण्ड सम्बन्ध है। अतः नाना एवं नानी (पुत्री के पुत्र) में सपिण्ड सम्बन्ध हुआ। इसी प्रकार मौसी एवं मामा से भी सापिण्ड सम्बन्ध होता है। चाचा एवं फूफी (पिता की बहन) सपिण्डता सम्बन्ध है। पत्नी का पति से सपिण्ड सम्बन्ध है क्योंकि वह पति के साथ एक पिण्ड (पुत्र) का निर्माण करती है। इसी प्रकार भाईयों की स्त्रियों में सपिण्डता पायी जाती है क्योंकि वे सपिण्ड सन्तान उत्पन्न करती हैं और उनके पति एक ही पिता के पुत्र हैं। इसी प्रकार जहाँ भी कहीं सपिण्ड शब्द आता है, उसे एक ही पिण्ड के सतत प्रवाह को सीधे रूप (पिता-पुत्र रूप) में या दूरी के रूप में (यथा पितामह-पौत्र रूप में) समझना चाहिए।" [302]

अतः इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि शरीर क्रमबद्धता होने से सपिण्डता होती है परन्तु विवाह की दृष्टि से सपिण्डता की सीमा को धर्मसूत्रकारों द्वारा सीमित कर दिया गया था।

गौतम के अनुसार सपिण्डता का यह सम्बन्ध पिता से लेकर उनके बन्धुवर्ग में सात पीढ़ी से ऊपर तक, बीजी (नियोग विधि से पुत्र उत्पन्न करने वाला पुरुष) के वंश में भी सात पीढ़ी से ऊपर तक तथा माता से आरम्भ कर उसके बन्धुवर्ग में पांच पीढ़ी से ऊपर तक रहता है। इसके पश्चात् सपिण्डता समाप्त हो जाती है।[303] कहने का तात्पर्य यह है कि व्यक्ति पिता की आठवीं पीढ़ी तथा माता की छठी पीढ़ी की कन्या से विवाह कर सकता है।

---

302. काणे, पी.वी., *ध. शा. इति.,* भाग -१, पृ. २७९

303. ऊर्ध्वं सप्तमात्पितृबन्धुभ्यो बीजिनश्च, मातृबन्धुभ्यः पञ्चमात्। *गौ. ध.* १/४/३

वसिष्ठ के अनुसार एक व्यक्ति माता के कुल से पाँचवें तथा पिता के कुल से सातवें कुल में विवाह कर सकता है।[304]

आपस्तम्ब के अनुसार ऐसे पुरुष को कन्या प्रदान नहीं करनी चाहिए जो मातृपक्ष अथवा पितृपक्ष से सम्बन्धित हो।[305] इस के विपरीत आचरण को आपस्तम्ब ने पतन का मार्ग बतलाते हुए कहा है कि माता - पिता के योनि सम्बन्ध वाली स्त्रियों (माता की बहन, पिता की बहन) तथा उनकी पुत्रियों (चाचा की पुत्री, बुआ की पुत्री, मामा की पुत्री, मौसी की पुत्री) के साथ संभोग को महापाप माना है।[306] अतः स्पष्ट है कि चचेरे, फुफेरे, ममेरे, मौसेरे भाई - बहनों में विवाह निषेध माना जाता था परन्तु बौधायन धर्मसूत्र[307] से ज्ञात होता है कि दक्षिणात्यों में एक विशेष प्रकार की प्रथा थी, जिसके अनुसार 'मामा - फूफों के बच्चों का' विवाह होता था वह वैवाहिक प्रथा देश के उस भाग में ही वैध थी।

काणे महोदय के मत में सपिण्ड विवाह पर प्रतिबन्ध होने के सम्भवतः दो कारणों से था, पहला यदि सन्निकट सम्बन्धी आपस में विवाह सम्बन्ध स्थापित करते हैं तो उनके शारीरिक दोष कई गुने रूप में उनकी सन्तानों में बढ़ जायेंगे तथा दूसरा यदि सन्निकट लोगों में विवाह - सम्बन्ध स्थापित होंगे तो गुप्त प्रेम जैसी सामाजिक विकृति आएगी। समाज में अनैतिकता बढ़ जायेगा। इस लिए कहा भी गया है कि दुहिता दुरे हिता।

---

304. पञ्चमीं मातृबन्धुभ्यः सप्तमीं पितृबन्धुभ्यः। *वसि. ध.* ८/२

305. मातुश्च योनिसम्बन्धेभ्यः। *आप. ध.* २/५/११/१६

306. मातुः पितुरिति योनिसम्बन्धे सहापत्ये स्त्रीगमनं सुरापानमसंयोगसंयोगः। वही, १/७/२१/८

307. यानि दक्षिणतस्तानि व्याख्यास्यामः। यथैतदनुपेतेन सह भोजनं, स्त्रिया सह भोजनं, पर्युषितभोजनं, मातुलपितृष्वसृदुहितृगमनमिति। *बौधा. ध.* १/२/२-३

३.१.७.२ सगोत्र :-

गोत्र शब्द से अभिप्राय व्यक्तियों के ऐसे समूह से हैं जो किसी एक मूल पुरुष से अपनी उत्पत्ति मानते हैं।[308] लेकिन प्रारम्भ में गोत्र का यह अभिप्राय नहीं था। ऋग्वेद में गोत्र का प्रयोग 'गोशाला' या 'गायों के झुण्ड' के अर्थ में हुआ है।[309] अन्यत्र ऋग्वेद में ही कहीं इसे पानी देने वाले बादलों को छिपाकर रखने वाला पर्वत शिखर कहा गया है।[310] अन्यत्र गोत्र का अर्थ 'दुर्ग' मिलता है।[311] साथ ही गोत्र शब्द का प्रयोग यहाँ 'समूह' अर्थ में भी हुआ है।[312] काणे महोदय के अनुसार यहाँ समूह से अभिप्राय मनुष्यों के दल से है।[313]

अपस्तम्ब के अनुसार अपने ही गोत्र वाले पुरुष से अपनी पुत्री का विवाह नहीं करना चाहिए।[314] गौतम सगोत्र विवाह को जघन्य अपराध मानते हैं।

उनके अनुसार समान प्रवर और गोत्र में विवाह करना गुरुपत्नीगमन के पाप के समान ही होता है। कुछ आचार्यों का मत यह भी है कि इस प्रकार के दुष्कर्म का पाप ब्राह्मचर्यव्रत खण्डन के पाप के तुल्य होता है।[315] मनु ने भी इसका उल्लेख अपने ग्रन्थ में किया हैं। वर्तमान में भी सामान्यतः सगोत्र विवाह नहीं किए जाते हैं विवाह से पूर्व गोत्र मिलान किया जाता है ताकि समान गोत्र में विवाह न हो पाये।

---

308. पूर्वपुरुषान् यत्तत् गोत्रम्। *शब्दकल्पद्रुम*- २, पृ.३५५,

309. *ऋ.,* १/५१/६, १/१७/१, ३/३९/४, ३/४३/७, ९/८६/२३, १०/४८/२, १०/१२०/८

310. वही, १०/१०३/७

311. वही, ६/१७/२, १०/१०३/६

312. वही, २/२३/२८, ६/६५/५

313. काणे, पी.वी., *ध. शा. इति.,* भाग -१, पृ. २८४

314. सगोत्राय दुहितरं न प्रयच्छेत्। *आप. ध.* २/५/११/१५

315. सखीसयोनिसगोत्राशिष्यभार्यासु स्नुषायां गवि च गुरुतल्पसमः। अवकर इत्येके। *गौ. ध.* ३/५/१२-१३

३.१.७.३ सप्रवर :-

प्रवर शब्द की उत्पत्ति 'वृञ् वरणे'धातु से हुई है। जिसका अर्थ है चुन लेना। प्र उपसर्ग होने से अर्थ हुआ 'विशेष तौर पर चुनना'।

डॉ. सत्यव्रत के मत में जिसे खास तौर पर प्रार्थना के लिए चुन लिया जाए, उसे प्रवर कहते हैं। [316] अर्थात् प्राचीन ऋषि अनेक ऋषियों में से चुन लिए जाने के कारण 'प्रवर' कहलाने लगे। प्रवर का समानार्थी शब्द आर्षेय है जिसका अर्थ है 'ऋषि से सम्बन्ध रखने वाला'। जैसे गोत्र ऋषियों के नाम पर हैं, वैसे ही प्रवर भी ऋषियों के नाम पर हैं। सामान्यतः प्रवर का अर्थ है 'एक विशेष प्रकार का आह्वाहन जो अग्न्याधान के अवसर पर अग्नि को संबोधित किया जाना है।'[317]

काणे के अनुसार प्रवर से अभिप्राय उन ऋषियों से है जो अत्यन्त प्राचीन काल में विद्यमान थे, जो अत्यन्त प्रसिद्ध तथा यशस्वी थे और जो गोत्र संस्थापक ऋषियों के पूर्वज थे।[318] लेकिन प्रवर उन ऋषियों से बनता है जो अति प्राचीनतम रहे हैं और जो गोत्र ऋषि के पूर्वज या कुछ दशाओं में अत्यन्त प्रख्यात ऋषि रहे हैं। पुरोहित ने जिन ऋषियों को यज्ञ के लिए चुन लिया, वे पुरोहित के प्रवर हुए और यजमान पुरोहित को चुनता है इसलिए पुरोहित के प्रवर भी यजमान के प्रवर समझे जाने लगे।

इस प्रकार पुरोहित के प्रवर तथा यजमान के प्रवर एक ही हो गये और एक प्रवर के लोगों में विवाह निषिद्ध समझा जाने लगा। गौतम, वसिष्ठ तथा विष्णु धर्मसूत्रकार ने सप्रवर कन्या के साथ विवाह वर्जित माना है।[319] वर्तमान समाज विवाह सम्बन्ध में प्रवर के स्थान पर सपिण्ड और गोत्र को ही महता देता है।

---

316. सिद्धान्तालंकार सत्यव्रत, *संस्कार चन्द्रिका*, पृ. ३६६

317. आप्टे, वामन शिवराम, *संस्कृत-हिन्दी शब्दकोश*, पृ.६८२

318. काणे, पी.वी., *ध. शा. इति.,* भाग -१, पृ. २९०

319. असमानप्रवरैर्विवाहः। गौ. ध., १/४/२, न समानार्थप्रवरां भार्या विन्देत्। *वि. ध.* २४/९

३.२ अष्टविध वैवाहिक लोकाचार :-

गृहस्थ आश्रम का प्रारम्भ करने वाला संस्कार विवाह संस्कार है। धर्मसूत्रों में विवाह के आठ प्रकार कहे गये हैं। ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस तथा पैशाच विवाह।[320] जिनका वर्णन इस प्रकार है -

३.२.१ ब्राह्म विवाह :-

धर्मसूत्र में वर्णित सभी प्रकार के विवाहों में ब्राह्म विवाह सर्वश्रेष्ठ माना गया है। ब्राह्म का अर्थ है - पवित्र वेद या धर्म, जिसे परमपूत कहा जाता है।[321] गौतम के अनुसार वेद के विद्वान्, उत्तम आचरण वाले, अपने तथा मातृपक्ष के बान्धवों से सम्पन्न एवं शीलवान् वर को वस्त्रों से सजायी गयी तथा आभूषणों से अलंकृत कन्या प्रदान करना ब्राह्म विवाह कहलाता है।[322] इस विवाह में न तो धन का लोभ होता है और न ही बल का प्रयोग होता है।

मनुस्मृतिकार ब्राह्म विवाह के विषये में कहा है कि -

"आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम्।

आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तितः॥"[323]

अर्थात् विद्वान् एवं श्रेष्ठ गुण कर्म स्वभाव के वर को, (जिसको कन्या ने स्वयं वरण कर प्रसन्न किया हो) आदरपूर्वक बुलाकर, वस्त्रादि से अलंकृत कर दोनों का आदर सत्कार पूर्वक कन्या प्रदान करना 'ब्राह्म विवाह' है।

---

320. *गौ. ध.* १/४/४-११

321. काणे, पी.वी., *ध. शा. इति.,* भाग -१, पृ.२९७

322. ब्राह्मो विद्याचारित्रबन्धुशीलसंपन्नाय दद्यादाच्छाद्यालं कृताम्। *गौ.ध.* १/४/४

323. *मनु.* ३/२७

बोधायन के अनुसार कि जब वेद के विद्वान् व्यक्ति को जिसने श्रुतिशील होने का ज्ञान प्राप्त कर लिया हो, जो ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कर रहा हो और जिसने विवाहार्थ कन्या की याचना की हो, को कन्या प्रदान की जाती है तब वह ब्राह्म विवाह कहलाता है।[324] आपस्तम्ब के अनुसार ब्राह्म विवाह उसे कहते हैं जब पिता वर के कुल, आचरण, धर्म में आस्था, विद्या और स्वास्थ्य के विषय में पूर्ण जानकारी प्राप्त कर लेता था, तब वह यथा शक्ति कन्या को आभूषणों से अलंकृत कर प्रजा की उत्पति तथा एक साथ धर्माचरण के लिए वर को देता था।[325]

गौतम ने स्वयं इस विवाह के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए लिखा है कि ब्राह्म विवाह से उत्पन्न सन्तान अपने से पहले की दस पीढ़ियों, अपने से आगे की दस पीढ़ियों और स्वयं अपने को मिलाकर कुल इक्कीस पीढ़ियों को पवित्र कर देता है। इसलिए यह सभी विवाहों में श्रेष्ठ है।[326] बौधायन ने भी इसका समर्थन किया है।[327]

अतः यह विवाह समाज में सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वाधिक प्रचलित था क्योंकि यह बल प्रयोग, कामुकता, किसी प्रकार की शर्त या धनलोलुपता से मुक्त था। इस विवाह में दोनों पक्षों पर किसी प्रकार का कोई दबाव नहीं होता था। वर्तमान में भी इसी प्रकार के विवाह को श्रेष्ठ माना गया है।

३.२.२ प्रजापति विवाह (प्राजापत्य) :-

गौतम के अनुसार जब 'सहधर्मश्चर्यताम्' अर्थात् तुम दोनों एक साथ रह कर गृहस्थाश्रम का पालन करो' इस कथन के साथ कन्या प्रदान की जाती है, तो वह

---

324. श्रुतिशीले विज्ञाय ब्रह्मचारिणेऽर्थिने कन्या दीयते, स ब्राह्मः। *बौधा. ध.* १/११/२०/२

325. ब्राह्मे विवाहे बन्धुशीललक्षणसम्पन्नश्रुतारोग्याणि बुध्वा प्रजां सहत्वकर्मभ्यः प्रतिपादयेच्छक्तिविषयेणाऽलंकृत्य। *आप. ध.* २/५/११/१७

326. दश पूर्वान्दश परानात्मानं च ब्राह्मीपुत्रो ब्राह्मीपुत्रः। *गौ. ध.* १/४/२७

327. साधवस्त्रिपुरुषमार्षाद् दश दैवाद् दश प्राजापत्याद् दश पूर्वान दशाऽपरानात्मानं च ब्राह्मीपुत्र इति विज्ञायते। *बौधा. ध.* १/११/२१/२

विवाह प्राजापत्य विवाह कहलाता है।[328] बोधायन के अनुसार जब पिता कन्या को वस्त्रों से आच्छादित कर 'यह तुम्हारी भार्या है, इसके साथ धर्मों का आचरण करो' ऐसा कहकर प्रदान करता है, तो वह प्राजापत्य विवाह कहलाता है।[329] आपस्तम्ब प्राजापत्य विवाह पर मौन है। गौतम के अनुसार इस विवाह से उत्पन्न पुत्र अपनी दश पीढ़ियों को पवित्र कर देता है।[330] बोधायन ने भी इनका समर्थन किया है।[331] परन्तु विष्णु के अनुसार इस विवाह से उत्पन्न पुत्र चार पीढ़ियों को पवित्र कर देता है।[332] साथ ही उन्होंने इस विवाह की महत्ता पर कहा है कि जो व्यक्ति प्राजापत्य रीति से अपनी कन्या का विवाह करता है, वह मृत्योपरान्त देव लोक को प्राप्त करता है।[333] ब्राह्म विवाह में पति पत्नी एक साथ धर्माचरण करते हैं किन्तु प्राजापत्य में जीवन पर्यन्त पत्नी के साथ धर्म का आचरण करने, दूसरे आश्रम में प्रविष्ट न होने और दूसरी स्त्री के पास न जाने के अर्थों का प्रतिपादन करने वाले मन्त्रों के द्वारा प्रतिज्ञा की जाती है जबकि ब्राह्म विवाह में इस प्रकार की कोई विशेष शर्त या प्रतिज्ञा नहीं होती है।[334]

काणे महोदय ने कहा भी है कि इस विवाह में पत्नी के जीवित रहने पर पति को गृहस्थ रहने, संन्यासी न बनने तथा दूसरा विवाह न करने का वचन देना पड़ता था क्योंकि यहा दान शर्त से जुड़ा हुआ है, इसलिए इस विवाह का प्रशस्थ विवाहों में सबसे निम्न स्थान था। जबकि धार्मिक दृष्टि से कोई भी दान किसी भी शर्त से रहित

---

328. संयोगमन्त्रः प्राजापत्ये सह धर्मश्चर्यतामिति। *गौ. ध.* १/४/५/

329. आच्छाद्याऽलंकृत्यै" षा सहधर्मश्चर्यता" मिति प्राजापत्यः। *बौधा. ध.* १/११/२०/३

330. दश दैवाद्दशैव प्राजापत्यात्। *गौ. ध.* १/४/२६

331. साधवस्त्रिपुरुषमार्षाद् दश दैवाद् दश प्राजापत्याद् दश पूर्वान् दशाऽपरानात्मानं च ब्राह्मीपुत्र इति विज्ञायते। *बौधा. ध.* १/११/२१/२

332. प्राजापत्यश्चतुरः। *वि. ध.* २४/२२

333. प्राजापत्येन देवलोकम्। *वि. ध.* २४/३६

334. *गौ. ध.* १/४/५, पर हरदत्त की टीका

होना चाहिए।[335] इस प्रकार यह विवाह ब्राह्म विवाह से निम्न कोटि का माना गया है।

३.२.३ आर्ष विवाह :-

गौतम के अनुसार आर्ष विवाह में वर पक्ष के लोग कन्या पक्ष को कन्या प्रदान करने के बदले गोमिथुन (बैल और गाय का जोड़ा) देते हैं।[336] वस्त्रादि से अलंकृत करना यह पूर्ववत् समान है। इस विवाह पर बोधायन का कथन है कि जब वर प्रथम लाजाहवन करके कन्या वाले को गोमिथुन प्रदान कर कन्या को ग्रहण करता है, तो वह आर्ष विवाह कहलाता है।[337] आपस्तम्ब के अनुसार आर्ष विवाह में वर कन्या के पिता को दो गौ (गाय तथा बैल का जोड़ा) प्रदान करता है।[338]गौतम आर्ष विवाह के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि इस विवाह से उत्पन्न पुत्र तीन पीढ़ियों के पुरुषों को पवित्र कर देता है।[339] बोधायन ने भी इसका समर्थन किया है।[340] विष्णु धर्मसूत्र में इसकी महत्ता के विषय में कहा गया है कि जो आर्ष रीति से अपनी कन्या का विवाह करता है, वह मृत्यूपरान्त विष्णुलोक को प्राप्त होता है।[341]

परन्तु कुछ विद्वानों को आर्ष विवाह में गोमिथुन देने में आपत्ति है। वे इसे कन्या का विक्रय मूल्य मानते हैं।

लेकिन यह उचित नहीं है। मनु ने स्पष्ट लिखा है कि आर्ष विवाह में एक जोड़ा गाय और बैल शुल्क के रूप में लेने की बात कही गयी है, सत्य नहीं है। शुल्क तो चाहे

---

335. काणे, पी.वी., *ध. शा. इति.,* भाग -१, पृ. २९७

336. आर्षे गोमिथुनं कन्यावते दद्यात्। *गौ. ध.* १/४/६

337. पूर्वा लाजाहुतिं हुत्वा गोमिथुनं कन्यावते दत्त्वा ग्रहणमार्ष:। *बौधा. ध.* १/११/२०/४

338. आर्षे दुहित्रृमते मिथनौ गावौ देयौ। *आप. ध.* २/५/११/१८

339. त्रिपुरूषमार्षात्। *गौ. ध.* १/४/२५

340. *बौधा. ध.* १/११/२१/२

341. आर्षेण वैष्णवम्। *वि. ध.* २४/३१

अल्प हो या अधिक विक्रय ही होगा।[342] मनु के अनुसार आर्ष विवाह का लक्षण है - जो वर से धर्मानुसार एक गाय बैल का जोड़ा अथवा दो जोड़े लेकर विधि अनुसार अर्थात् यज्ञादिपूर्वक कन्या का दान करता है, वह आर्ष विवाह कहलाता है।[343]

गाय और बैल देने का उद्देश्य शायद उनसे उत्पन्न बछड़े के माध्यम से माता - पुत्र की भावनाओं को समझना तथा घर में घी, दुध, दही आदि से सम्पन्नता बने रहना।

३.२.४ दैव विवाह :-

वेदों में यज्ञ में की गयी सेवाओं के बदले में पुरोहित को कन्या देने का उल्लेख मिलता है।[344] गौतम के अनुसार जब पिता यज्ञ के अवसर पर वेदी पर यज्ञकर्म कराने वाले ऋत्विज को आभूषण से अलंकृत करके कन्या प्रदान करता है, तब वह दैव विवाह कहलाता है।[345] आपस्तम्ब के अनुसार दैव विवाह में पिता कन्या को किसी ऐसे ऋत्विज को प्रदान करे, जो श्रौतयज्ञ करा रहा हो।[346]

बौधायन के अनुसार यदि यज्ञ में दक्षिणाओं के दिये जाते समय वेदि के समीप ही ऋत्विज को कन्या प्रदान की जाय तो, वह दैव विवाह है।[347] साथ ही तथा बौधायन इस विवाह की महत्ता बताते हैं कि इस विवाह से उत्पन्न सन्तान दस पीढ़ियों को पवित्र कर देती है।[348]

---

342. आर्षे गोमिथुनं शुल्कं केचिदाहुर्मृषै व तत्। अल्पोऽप्येवं महान्वाऽपि विक्रयस्तावदेव सः॥ *मनु.* ३/५३

343. एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः। कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते॥ *मनु.* ३/२९

344. *ऋ.* ५/६१/१७-१९

345. अन्तर्वेद्यृत्विजे दानं दैवोऽलंकृत्य। *गौ. ध.* १/४/७

346. दैवे यज्ञतन्त्र ऋत्विजे प्रतिपादयेत्। *बौधा. ध.* २/५/११/१९

347. दक्षिणासु नीयमानास्वन्तर्वेदि ऋत्विजे स दैवः। *बौधा. ध.* १/११/२०/५

348. *गौ. ध.* १/४/२६, *बौधा. ध.* १/११/२१/२

विष्णु धर्मसूत्र में इस विवाह के महत्त्व के विषय में लिखा है कि जो व्यक्ति देव रीति से अपनी कन्या का विवाह करता है, वह मृत्यूपरान्त स्वर्गलोक प्राप्त करता है।[349] दैवयज्ञ के अवसर पर सम्पन्न होने वाले विवाह को देव विवाह कहा गया है। इसका प्रचलन भी मुख्यतया ब्राह्मणों में ही था क्योंकि पौरोहित्य का कार्य केवल ब्राह्मण ही करते थे। देवताओं की पूजा के समय विवाह जैसी बात मन में नहीं लानी चाहिए इसलिए इसे ब्राह्म विवाह की अपेक्षा निम्न श्रेणी का माना है।

संक्षेप में दैव विवाह के विषय में कहा जा सकता है कि प्राचीन समय में यज्ञ बहुत बड़े स्तर पर कई दिनों चलते थे। जिनमें बड़ी संख्या में पुरोहितों को बुलाया जाता था। यहाँ कुछ पुरोहित अविवाहित भी होते थे। यज्ञ सम्पन्न होने पर पिता अपनी कन्या को उनमें से किसी एक को दान कर देता था। जब तक समाज में दीर्घकालीन यज्ञों का प्रचलन था तब तक इस विवाह के प्रमाण मिलते हैं कालान्तर में दीर्घकालीन यज्ञों की समाप्ति के साथ देव विवाह समाप्त हो गये।

३.२.५ गान्धर्व विवाह :-

गौतम धर्मसूत्रकार के अनुसार गान्धर्व विवाह को चाहने वाली कन्या के साथ स्वयं अपनी इच्छा से सम्बन्ध स्थापित करना गान्धर्व विवाह कहलाता है।[350] बौधायन के अनुसार प्रेमकरने वाला पुरुष का यदि प्रेम करने वाली कन्या से संयोग हो तो वह गान्धर्व विवाह कहलाता है।[351]

आपस्तम्ब भी बौधायन का समर्थन करते हैं उनके अनुसार जब कन्या और वर परस्पर प्रेम से संयोग करते हैं तो वह गान्धर्व विवाह होता है।[352] साथ ही यह भी

---

349. दैवेन स्वर्गम्। *वि. ध.* २४/३४

350. इच्छन्त्याः स्वयं संयोगो गान्धर्वः। *गौ. ध. १/४/८*

351. सकामेन सकामायां मिथस्संयोगो गान्धर्वः। *बौधा.ध.* १/११/२०/६

352. मिथः कामात्सांवर्तेते स गान्धर्वः। *आप. ध.*, २/५/११/२०

कहा है कि संयोग के उत्तरकाल में विवाह संस्कार होना चाहिए। विष्णु धर्मसूत्रकार के अनुसार जब स्त्री और पुरुष प्रेम के वशीभूत होकर माता - पिता की अनुमति के विना विवाह कर लेते हैं तो वह गान्धर्व विवाह कहलाता है।[353] वसिष्ठ ने इस विवाह के लिए समान वर्ण की कन्या को उपयुक्त माना है।[354] किन्तु बौधायन ने इस विवाह को वैश्यों और शूद्रों के लिए उपयुक्त्त माना है क्योंकि वैश्य और शूद्र की पत्नियों के विषय में नियमों का बहुत कम ध्यान रखतें हैं।[355] लेकिन अन्यत्र बौधायन परस्पर प्रेम सम्बन्धों पर आश्रित होने के कारण गान्धर्व विवाह की अनुमति सभी वर्णों के लिए दे देतें हैं।[356] गौतम केवल प्रथम चार प्रकार के विवाहों को ही सभी वर्ण के लिए धर्म संगत कहते हैं। वे गान्धर्व विवाह को प्रशस्त प्रकार नहीं मानते है ।[357] वर्तमान में जिसे प्रेम विवाह कहते हैं, वास्तव में यह गान्धर्व विवाह का ही रूप है। कानून ने भले ही आज इसे मान्यता प्रदान की हो लेकिन समाज में इसे आज भी सही नहीं माना जाता है।

३.२.६ आसुर विवाह :-

आसुर विवाह उसे कहते हैं, जिसमें वधू पक्ष को धन देकर कन्या को खरीदा जाता था। गौतम के मत में कन्या के अभिभावकों को धन देकर अपने वश में करके कन्या को ग्रहण करना आसुर विवाह है।[358] बौधायन के अनुसार वधू पक्ष को धन से संतुष्ट करके विवाह करना आसुर विवाह कहलाता है।[359] इस विवाह के विषय में

---

353. द्वयोः सकामयोर्मातापितृरहितो योगो गान्धर्व। *वि. ध.* २४/२३

354. सकामां कामयमानः सदृशीं योनिमुह्यात्स गान्धर्वः। *वसि. ध.* १/३३

355. पञ्चमाष्टमौ वैश्यशूद्राणाम्। अयन्त्रितकलत्रा हि वैश्य शूद्रा भवन्ति। *बौधा.ध.* १/११/२०/१३-१४

356. गान्धर्वमप्येके प्रशंसन्ति सर्वेषां स्नेहानुगतत्वात्। *बौधा. ध.* १/११/२०/१६

357. चत्वारो धर्म्याः प्रथमाः। *गौ. ध.* १/४/१२

358. वित्तेनाऽऽनतिः स्त्रीमतामासुरः। *गौ. ध.* १/४/९

359. धनेनोपतोष्याऽसुरः। *बौधा. ध.* १/११/२०/७

आपस्तम्ब का कहना है कि जब वर कन्या के लिए अपनी शक्ति के अनुसार धन प्रदान कर विवाह करे, तो वह विवाह आसुर विवाह कहलाता है।[360]

३.२.७ राक्षस विवाह :-

राक्षस विवाह वह विवाह है जिस में वर कन्या के पिता (वधू पक्ष) या स्वयं कन्या की स्वीकृति की प्रतीक्षा न कर बलपूर्वक उसका हरण कर विवाह कर लेता था। के अनुसार बलपूर्वक कन्या का अपहरण करके विवाह कर लेना राक्षस विवाह कहलाता है।[361] बौधायन के अनुसार भी बलपूर्वक कन्या का अपहरण कर विवाह करना राक्षस विवाह है।[362] आपस्तम्ब के अनुसार कन्या पक्ष वाले को परास्त कर वर कन्या का अपहरण करे तो वह राक्षस विवाह कहलाता है।[363] पी.वी. काणे के अनुसार सम्बन्धियों को मार कर, घायल कर, घर द्वार तोड़ - फोड़कर जब रोती बिलखती हुई कन्या को बलवश छीन लिया जाता है तो इस प्रकार से प्राप्त कन्या के सम्बन्ध को राक्षस विवाह कहते हैं। बलवश कन्या को उठा ले जाना (भले ही पिता डर कर लुटेरे से युद्ध न करें) राक्षस विवाह के मूल में पाया जाता है। राक्षस लोग अपने क्रूर एवं शक्तिशाली कार्यों के लिए प्रसिद्ध माने जाते हैं अतः इस प्रकार के विवाह को राक्षस संज्ञा मिली है।[364] बौधायन ने इस विवाह को क्षत्रियों के लिए धर्मानुकूल माना है क्योंकि उनके अनुसार क्षत्रियों में बल प्रधान होता है।[365] वर्तमान में यह अपराध की श्रेणी में आता है।

---

360. शक्तिविषयेण द्रव्याणि दत्त्वाऽऽवहेरन् स आसुरः। *आप. ध.* २/५/१२/१

361. प्रसह्याऽदानाद्राक्षसः। *गौ. ध.* १/४/१०

362. प्रसह्य हरणाद्राक्षसः। *बौधा. ध.* १/११/२०/८

363. दुहितृमतः प्रोथयित्वाऽऽवहेरन् स राक्षसः। *आप. ध.* २/५/१२/२

364. काणे, पी.वी., ध. शा. इति., भाग -१, पृ. २९७-२९८

365. अत्राऽपि षष्ठसप्तमौ क्षत्त्रधर्मानुगतौ तत्प्रत्ययत्वात् क्षत्त्रस्येति। *बौधा. ध.* १/११/२०/१२

३.२.८ पैशाच विवाह :-

यह विवाह उपर्युक्त सभी विवाहों में सबसे निम्न कोटि का निन्दित, अप्रशस्त तथा अधम प्रकार का माना जाता था। गौतम के अनुसार सोयी हुयी, मूर्च्छित या प्रमत्त कन्या के साथ संगम पैशाच विवाह कहलाता है।[366] बौधायन के अनुसार सोती हुयी, नशीली वस्तु से नशे में हुयी अथवा भयादि से प्रमत्त बनी हुयी कन्या से बलात् संभोग पैशाच विवाह कहलाता है।[367] याज्ञवल्क्य स्मृतिकार ने इस विवाह को छल और कपट पर आधारित कहा है।[368] बौधायन ने इस विवाह को वैश्यों और शूद्रों के लिए उपयुक्त माना है क्योंकि वैश्य और शूद्र पत्नियों के विषय में नियमों का बहुत कम ध्यान रखतें हैं।[369] काणे महोदय के अनुसार पिशाच लोग लुकछिपकर ही दुष्कर्म करते हैं अतः उस कार्य के सदृश कार्य को पैशाच विवाह की संज्ञा दी गई है।[370]

उपरोक्त अष्ट प्रकार के विवाहों में से प्रथम चार प्रकार के विवाहों को सभी वर्णों के लिए धर्मसंगत बतलाया है।[371] परन्तु कुछ स्मृतिकार प्रथम छः प्रकार के विवाहों को धर्मसंगत मानते हैं अर्थात् गान्धर्व और आसुर विवाह को भी धर्मानुकूल मानते हैं।[372]

---

366. असंविज्ञातोपसंगमात्पैशाचः। *गौ. ध.*१/४/११

367. सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वोपयच्छेदिति पैशाच। *बौधा.ध.* १/११/२०/९

368. पैशाचः कन्याछलात्। *याज्ञ. स्मृ.* १/६१

369. पञ्चमाष्टमौ वैश्यशूद्राणाम्। अयन्त्रितकलत्रा हि वैश्य शूद्रा भवन्ति। *बौधा.ध.* १/११/२०/१३-१४

370. काणे, पी.वी., *ध. शा. इति.* भाग -१, पृ. २९८

371. चत्वारो धर्म्याः प्रथमाः। *गौ. ध.* १/४/१२

372. षडित्येके। *गौ. ध.* १/४/१३

३.३ वैवाहिक लोकाचार के अन्य बिन्दु :-

इसमें दोनों पक्षों के आधार पर वैवाहिक विचार विमर्श किया जाता है। जैसे - आयु, वंश, गोत्र, परम्परा और निवास स्थान, देश आदि ।

३.३.१ स्वयंवर :-

उपरोक्त आठ प्रकार के विवाहों के अतिरिक्त स्वयंवर प्राचीन भारत में प्रचलित वह प्रथा है जिसमें कन्याएँ स्वयं अपनी इच्छा से पति का चुनाव करती थी। स्वयंवर से अभिप्राय है 'स्वयं अपने पति का वरण करना। गौतम के अनुसार कन्या का विवाह उसके ऋतुकाल (रजोदर्शन) के पहले ही कर देना चाहिए।[373] यदि पिता आदि कन्या का विवाह न करें तो वह कन्या तीन ऋतुकाल बीत जाने पर पिता के कुल से प्राप्त अलंकारों को त्याग कर स्वयं ही उत्तम (कुल, विद्या और शील से युक्त) वर के पास चली जाये।[374] बौधायनाचार्य के अनुसार ऋतुमती कन्या तीन वर्ष तक पिता की आज्ञा की प्रतीक्षा करे। उसके बाद चौथे वर्ष में अपने योग्य गुणवान पति का स्वयं वरण करे।[375] वधू स्वयं वरण करते समय पुरुष में समान जाति और समान गुण को देखे और यदि ऐसा पुरुष न मिले तो गुणहीन पुरुष भी पति के रूप में वरण करे।[376] विद्वानों ने स्वयंवर की पद्धति को विकास की दृष्टि से तीन भागों में बांटा है।

प्रथम अत्यन्त प्राचीन काल (वैदिक काल) में कन्या को अपना पति चुनने की पूरी स्वाधीनता होती थी। ऋग्वेद के अनुसार वह वधू भद्रा कहलाती है जो सुन्दर वेशभूषा से अलंकृत होकर पुरुषों के मध्य से स्वयं अपना पति चुन लेती है।[377] ऋग्वेद

---

373. प्रदानं प्रागृतोः। *गौ. ध.* २/९/२१

374. त्रीन्कुमार्यृतूनतीत्य स्वयं युज्येतानिन्दितेनोत्सृज्य पित्र्यानलंकारान्। *गौ. ध.* २/९/२०

375. त्रीणि वर्षाण्यृतुमती कांक्षेत पितृशासनम्। ततश्चतुर्थे वर्ष तु विन्देत सदृशं पतिम्। *बौधा. ध.* ४/१/१/१५

376. अविद्यमाने सदृशे गुणहीनमपि श्रयेत्। *बौधा. ध.* ४/१/१/१६

377. भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशाः स्वयं सा मित्रं वनुते जनेचित्। *ऋ.* १०/२७/१२

में अनेक ऐसे उत्सवों और समारोहों का उल्लेख मिलता है जिसमें कन्याएँ अपना पति स्वयं चुन लेती है।[378]

अथर्ववेद के एक मन्त्र से ज्ञात होता है कि प्रायः माता - पिता कन्या को अपने प्रेमी को चुनने के लिए स्वतन्त्र छोड़ देते थे साथ ही प्रेम प्रसंग में आगे बढ़ने के लिए उन्हें प्रत्यक्षतः प्रोत्साहित भी करते थे।[379]

द्वितीय प्रकार का स्वयंवर वह होता था जिस में यदि पिता रजस्वला होने पर भी कन्या का विवाह नहीं कर पाता था तब ऐसी अवस्था में कन्या को अधिकार था कि वह कुछ समय प्रतीक्षा करने के उपरान्त स्वयं अपने पति का वरण कर ले। धर्मसूत्रों में इस प्रकार के स्वयंवर का विधान किया गया है। तृतीय स्वयंवर में कोई शर्त रख दी जाती थी। जिसको पूरा करने वाले पुरुष को ही कन्या वरण करती थी।

३.३.२ अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाह :-

समाज में जो अन्तर्जातीय विवाह का प्रचलन है। वह धर्मसूत्रों में अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाह रूप में जाना जाता हैं।

- **अनुलोम विवाह :-**

अनुलोम विवाह उस विवाह को कहते हैं जब एक उच्च वर्ण का पुरुष अपने से निम्न वर्ण की स्त्री से विवाह करता है। बौधायन के अनुसार अनुलोम विवाह के अन्तर्गत ब्राह्मण अपनी स्त्री के अतिरिक्त क्षत्रिया, वैश्य और शूद्र वर्ण की स्त्रियों के साथ, क्षत्रिया अपनी स्त्री के अतिरिक्त वैश्य और शूद्र वर्ण की स्त्रियों के साथ, वैश्य अपनी स्त्री के अतिरिक्त शूद्र वर्ण की स्त्री के साथ विवाह कर सकता है। किन्तु शूद्र केवल अपने ही वर्ण की स्त्री के साथ विवाह कर सकता है, अन्य किसी वर्ण की स्त्री से

---

378. *ऋ.* ४/५८/८-९

379. आ नो अग्ने सुमतिं संभलो गमेदिमां कुमारीं सह नो भगेन। जुष्टा वरेषु समनेषु वल्गुरोषं पत्या सौभगमस्त्वस्यै॥ *अथर्व.*, २/३६/१

नहीं। शूद्र से निम्न कोई वर्ण न होने के कारण उसका अनुलोम विवाह नहीं हो सकता है। इस प्रकार उसकी एक ही पत्नी होती है।[380]

- **प्रतिलोम विवाह :-**

अनुलोम विवाह के विपरीत जब कोई निम्न वर्ण का पुरुष अपने से उच्च वर्ण की स्त्री के साथ विवाह करता है तो वह प्रतिलोम विवाह कहलाता है। धर्मसूत्रों में प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न सन्तानों के नामों का भी उल्लेख मिलता है जैसा कि गौतम धर्मसूत्रकार ने कहा है कि प्रतिलोम विवाह में पुरुष अपने से उच्चवर्ण में अनन्तर (क्षत्रिया और ब्राह्मणी, वैश्य और क्षत्रिया, शूद्र और वैश्या के विवाहों द्वारा), एकान्तर (वैश्या और ब्राह्मणी, शूद्र और क्षत्रिया के विवाह द्वारा) तथा द्वयन्तर (शूद्र और ब्राह्मणी) के विवाहों से उत्पन्न पुत्र क्रमशः सूत, मागध, आयोगव, कृत, वैदेहक और चण्डाल कहलाते हैं।[381]

- क्षत्रिया और ब्राह्मणी संयोग से उत्पन्न पुत्र ⟹ सूत
- वैश्य और क्षत्रिया संयोग से उत्पन्न पुत्र ⟹ मागध
- शूद्र और वैश्या संयोग से उत्पन्न पुत्र ⟹ आयोगव
- वैश्य और ब्राह्मणी संयोग से उत्पन्न पुत्र ⟹ कृत
- शूद्र और क्षत्रिया संयोग से उत्पन्न पुत्र ⟹ वैदेहक
- शूद्र और ब्राह्मणी संयोग से उत्पन्न पुत्र ⟹ चण्डाल

इस प्रकार से सन्तानें प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न होती हैं। गौतम के अनुसार सभी प्रतिलोम सन्तानें धर्महीन होती हैं।[382] बौधायन ने वर्ण संकरता से उत्पन्न

---

380. तेषां वर्णानुपूर्व्येण चतस्रो भार्या ब्राह्मणस्य। त्रिस्रो राजन्यस्य। द्वे वैश्यस्य। एका शूद्रस्य। *बौधा. ध.* १/८/१६/२-५

381. प्रतिलोमास्तु सूतमागधायोगवकृतवैदेहकचण्डालाः। *गौ. ध.* १/४/१५

382. प्रतिलोमास्तु धर्महीनाः। *गौ. ध.* १/४/२०

सन्तान को 'व्रात्य' कहा है।[383] वसिष्ठ के अनुसार गुप्त रूप से उत्पन्न तथा वर्णों के प्रतिलोम क्रम से उत्पन्न सन्तान कलंक के समान होती हैं क्योंकि ऐसी सन्तानों में गुण और आचार का अभाव होता है।[384]

विष्णु ने भी इस विवाह से उत्पन्न सन्तानों को निन्दनीय माना है।[385]शास्त्रकारों ने अपने ग्रन्थों में प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न सन्तान को वर्णसंकर, कलंक, अत्यन्त हीन, निन्दनीय तथा अस्पृश्य माना है।

३.३.३ एकपत्नी विवाह :-

विवाह में एक पत्नी विवाह को आदर्श विवाह माना गया है। आपस्तम्ब के अनुसार यदि पत्नी (श्रौत, गृह्य तथा स्मार्त) धर्मों में श्रद्धा रखने वाली तथा पुत्र उत्पन्न करने में सक्षम हो तो दूसरा विवाह नहीं करना चाहिए।[386] परन्तु यदि पत्नी इन दोनों में किसी एक के पालन करने में असमर्थ है तो दूसरा विवाह कर लेना चाहिए।[387] साथ ही उन्होंने यह भी कहा है कि यदि कोई पति बिना कारण के पत्नी का परित्याग करता है तो वह गदहे का चमड़ा इस प्रकार धारण करे कि उसके रोएँ बाहर की ओर हो और सात घरों में यह कह कर भिक्षा माँगे 'पत्नी का त्याग करने वाले को भिक्षा दो'। उसी भिक्षा से छः महीने तक जीव का निर्वाह करते हुए रहे[388] और यदि पत्नी ने बिना कारण के पति को त्याग दिया हो तो वह बारह दिनों का कृच्छ्र व्रत करते हुए उतने ही समय तक (छः मास तक) प्रायश्चित करे।[389]

---

383. वर्णसंकरादुत्पन्नान्व्रात्यानाहुर्मनीषिणो। *बौधा. ध.* १/९/१७/१५

384. छन्नोत्पन्नाश्च ये केचित्प्रातिलोम्यगुणाश्रिता। गुणाचारपरिभ्रंशात्कर्मभिस्तान्विजानीयुरिति॥ *वसि. ध.* १८/७

385. प्रतिलोमस्वार्यविगर्हिताः। *वि. ध.* १६/३

386. धर्मप्रजासम्पन्ने दारे नाऽन्यां कुर्वीत। *आप. ध.,* २/५/११/१२

387. अन्यतराभावे कार्या प्रागग्न्याधेयात्। वही, २/५/११/१३

388. दारव्यतिक्रमी खराजिनं बहिर्लोम परिघाय 'दारव्यतिक्रमिणे भिक्षा' मिति सप्ताऽगाराणि चरेत्। सा वृत्तिः षण्मासान्। वही, १/१०/२८/१९

389. स्त्रियास्तु भर्तुव्यतिक्रमे कृच्छ्रद्वादशरात्राभ्यासस्तावन्तं कालम्। वही, १/१०/२८/२०

३.३.४ बहुपत्नी विवाह :-

बहुपत्नी विवाह से अभिप्राय है कि किसी पुरुष का एक स्त्री के रहते एक से अधिक स्त्रियों के साथ विवाह करना। यद्यपि भारतीय समाज में एक पत्नी विवाह को ही आदर्श माना है तथापि बहुपत्नी विवाह के अनेक उदाहरण साहित्य में देखने को मिल जाते हैं। बौधायन के अनुसार चार वर्ण होते हैं।

ब्राह्मण, क्षत्रिया, वैश्य और शूद्र। इन वर्णों में वर्णों के क्रमानुसार ब्राह्मण की चार पत्नियाँ हो सकती हैं। क्षत्रिया वर्ण के क्रम से तीन (क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र वर्ण की) पत्नियाँ हो सकती हैं। वैश्य की दो पत्नियाँ (वैश्य और शूद्र वर्ण की) हो सकती हैं।[390] धर्मसूत्रीय ग्रन्थों में कुछ शर्तों के बाद अन्य विवाह या बहुपत्नी रखने की बात कही गयी है। परन्तु बहुधा एकपत्नीत्व का ही समर्थन किया गया है। सहज रूप से कोई भी व्यक्ति अपनी पत्नी का परित्याग नहीं कर सकता है।

बौधायन के अनुसार दसवें वर्ष में बन्ध्या स्त्री का परित्याग कर दे, केवल पुत्रियाँ उत्पन्न करने वाली स्त्री का बारहवें वर्ष में परित्याग कर दे, जिस स्त्री के बच्चे मर जाते हों उसका पन्द्रहवें वर्ष में परित्याग कर दें और झगड़ालु हो उसका तत्काल परित्याग करना चाहिए।[391] इस प्रकार ज्ञात होता है कि धर्मसूत्रों में मुख्य रूप से एकपत्नी रखने पर ही बल दिया है, उसे ही आदर्श विवाह माना गया है। एक से अधिक विवाह सम्बन्ध कुछ विशेष परिस्थितियों में किये जाते थे।

---

390. चत्वारो वर्णा ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्राः। तेषां वर्णानुपूर्व्येण चतस्रो भार्या ब्राह्मणस्य। तिस्रो राजन्यस्य।

द्वे वैश्यस्य। *बौधा. ध.* १/८/१६/१-४

391. अप्रजां दशमे वर्षे स्त्रीप्रजां द्वादशे त्यजेत्। मृतप्रजां पञ्चदशे सद्यस्त्वप्रियवादिनीम्॥ *बौधा. ध.*२/२/४/६

३.३.५ विधवा विवाह तथा पुनर्विवाह :-

धर्मसूत्रों में विधवा विवाह तथा पुनर्विवाह के अनेक प्रमाण मिलते हैं। बौधायन के अनुसार नपुंसक तथा पतित पति को छोड़कर दूसरे पुरुष से विवाह करने वाली स्त्री से जो पुत्र उत्पन्न होता है उसको पौनर्भव कहते हैं। यहाँ पति के मृत होने पर दूसरा विवाह करने वाली स्त्री से भी अर्थ लेना चाहिए।[392]

साथ ही यह भी कहा गया है कि यदि कन्या का संकल्पपूर्वक विवाह में दान कर दिया गया हो ओर उसके बाद पति की मृत्यु हो जाए और उस कन्या का पति के साथ मैथुन संबन्ध न हुआ हो तो पति के घर जाकर भी वहाँ से पुनः पिता के घर आने पर उसका विवाह किया जा सकता है।[393] यदि कोई कन्या बलपूर्वक भगायी गयी हो और उससे मन्त्रों के साथ विधिवत विवाह न किया गया हो तो उसका विवाह विधिपूर्वक दूसरे पुरुष साथ किया जा सकता है क्योंकि वह कुमारी कन्या के समान ही होती है।[394] इस बात का समर्थन तो वसिष्ठ ने भी समान शब्दों में किया है।[395]

वसिष्ठ धर्मसूत्रकार ने तो इस विषय पर विस्तार से वर्णन किया है उनके अनुसार जो स्त्री युवावस्था में अपने पति के साथ रहती है और फिर उसे छोड़ कर अन्य पुरुष के पास रहकर पुनः अपने परिवार में लौट आती है, वह स्त्री 'पुनर्भु' तथा

---

392. क्लीबं त्यक्त्वा पतितं वा याऽन्यं पतिं बिन्देत्तस्यां पुनर्भ्वां यो जातस्स पौनर्भवः।
बौधा. ध. २/२/३/२७ पृ.१८८

393. निसृष्टायां हुते वाऽपि यस्यै भर्ता म्रियेत सः। सा चेदक्षतयोनिस्स्याद्गतप्रत्यागता सती॥ पौनर्भवेन विधिना पुनस्संस्कारमर्हति॥ वही, ४/१/१०/१८

394. बलाच्चेत्प्रहृता कन्या मन्त्रैर्यदि न संस्कृता । अन्यस्मै विधिवद्देया यथा कन्या तथैव सा ॥ वही, ४/१/१०/१७

395. बलाच्चेत्प्रहृता कन्या मन्त्रैर्यदि न संस्कृता ।अन्यस्मै विधिवद्देया यथा कन्या तथैव सा ॥ *वसि. ध.* १७/७३

उससे उत्पन्न सन्तान 'पौनर्भव' कहलाती है।[396] साथ ही उस स्त्री को भी 'पुनर्भु' कहा जाता है जो अपने नपुंसक, पतित और पागल पति को छोड़कर या उसकी मृत्यु के पश्चात् दूसरे पुरुष का वरण कर लेती है।[397] यदि कन्या वाग्दान के द्वारा किसी पुरुष को दी जा चुकी हो परन्तु यदि विवाह से पूर्व ही उसके पति की मृत्यु हो जाए तो वह दूसरा विवाह कर सकती है।[398]

यदि कन्या विवाह के तुरन्त बाद ही विधवा हो जाती है तथा उस समय तक वह अक्षत योनि की होती है तो वह कन्या पुनर्विवाह कर सकती है।[399] आगे वसिष्ठ ने इस पर भी प्रकाश डाला है कि स्त्री अपने विदेश गये हुए पति की पांच वर्ष तक प्रतीक्षा करे, उसके बाद पति के पास जाए। यदि धार्मिक एवं आर्थिक कारण से उसके पास नहीं जा पाती है तो उसे इस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए कि उसका पति मर चुका है। सन्तानवती ब्राह्मणी पाँच वर्ष और निःसन्तान चार वर्ष तक, सन्तानवती क्षत्रिया पांच वर्ष और निःसन्तान तीन वर्ष तक, सन्तानवती वैश्या चार वर्ष और निःसन्तान दो वर्ष तक तथा सन्तानवती शूद्रा दो वर्ष और निःसन्तान एक वर्ष तक पति की विदेश से लोटने की प्रतीक्षा करे। इसके पश्चात् वह पति के समान स्वार्थ, जाति, पिण्ड, उदक एवं गोत्र वाले व्यक्ति से विवाह करे। इसमें पहला व्यक्ति पिछलों से अधिक गौरव वाला होता है।[400] परन्तु आपस्तम्ब ने पुनर्विवाह की निन्दा

---

396. पौनर्भवश्चतुर्थः। या कौमारं भर्तारमुत्सृज्यान्यैः सह चरित्वा तस्यैव कुटुम्बमाश्रयति सा पुनर्भूर्भवति॥

वसि. ध. १७/१८-१९

397. या च क्लीवं पतितमुन्मत्तं वा भर्त्तारमुत्सृज्यान्यं पतिं विन्दते मृते वा सा पुनर्भूर्भवति। वही, १७/२०

398. अद्भिर्वाचा च दत्तायां म्रियेतादौ वरो यदि। न च मन्त्रोपनीता स्यात्कुमारी पितुरेव सा। *वसि. ध.* १७/७२

399. पाणिग्राहे मृतेबाला केवलं मन्त्रसंस्कृता। सा चेदक्षतयोनिः स्यात्पुनः संस्कारमर्हतीति॥ वही, १७/७४

400. वही, १७/७५-७८

की है। उनके अनुसार यदि कोई पुरुष ऐसी स्त्री से सम्भोग करता है जिसका पहले ही विवाह हो चुका हो तो वह पुरुष दोष का भागी होता है साथ ही उन दोनों के संयोग से उत्पन्न पुत्र भी दोष युक्त होता है।[401]

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि धर्मसूत्रकारों के द्वारा उस काल में विधवा और सधवा दोनों को पुनर्विवाह की अनुमति दे दी गयी थी। चाहे पुनर्विवाह को समाज में आदर्श स्थान न मिला हो अथवा सम्मान की दृष्टि से न देखा गया हो परन्तु यह तय है कि उस समय में विधवा विवाह तथा पुनर्विवाह होते थे।

३.३.६ नियोग प्रथा :-

नियोग प्रथा का उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति होता था। गौतम के अनुसार सन्तानोत्पत्ति से पूर्व ही पति की मृत्यु होने पर पति के कनिष्ठ भाई अर्थात् देवर से सन्तान प्राप्ति की इच्छा तथा गुरुजनों (पतिपक्ष या पितृपक्ष) की अनुमति से देवर के साथ सम्बन्ध स्थापित करना और ऋतुकाल का अतिक्रमण न हो।[402] देवर के अभाव ने सपिण्ड, सगोत्र, सप्रवर अथवा सजाति पुरुष के साथ नियोग सम्बन्ध स्थापित करने की अनुमति दी है।[403] परन्तु साथ ही उन्होंने अन्य आचार्यों के मत को भी प्रस्तुत किया है कि देवर के अतिरिक्त अन्य किसी पुरुष से सन्तान की इच्छा न करे[404] क्योंकि यदि देवर के अतिरिक्त किसी अन्य द्वारा उत्पन्न की गयी सन्तान उत्पन्न करने वाले की होती है। (क्षेत्री की नहीं)[405] क्षेत्री (स्त्री का वास्तविक पति) के जीवित रहने

---

401. पूर्ववत्यामसंस्कृतायां वर्णान्तरे च मैथुने दोषः। तत्रापि दोषवान् पुत्र एव। *आप. ध.* २/६/१३/३-४

402. अपतिरपत्यलिप्सुर्देवरात्। गुरुप्रसूता नर्तुमतीयात्। *गौ. ध.* २/९/४-५

403. पिण्डगौत्रर्षिसंबन्धेभ्यो योनिमात्राद्वा। वही, २/९/६

404. नादेवरादित्येके। वही, २/९/७

405. परस्मात्तस्य। वही, २/९/१२

पर उसके रोगी या बन्धय होने पर उसकी प्रार्थना से नियोग द्वारा पुत्र उत्पन्न किया गया हो तो वह क्षेत्री का ही होता है, पुत्र उत्पन्न करने वाले का नहीं।[406]

इस प्रकार नियोग से एक सन्तान के बाद दूसरी सन्तान उत्पन्न नहीं करनी चाहिए।[407] यदि नियोग से उत्पन्न सन्तान का भरण - पोषण और संस्कारादि पति (क्षेत्री) ही करता है तो वह सन्तान उसी की होती है।[408]

बौधायन के अनुसार पति की मृत्यु होने पर विधवा स्त्री एक वर्ष तक मधु, माँस, मद्य और नमक का प्रयोग न करे तथा भूमि पर शयन करे।[409]

यदि उसका कोई पुत्र न हो तो वह गुरुजनों की आज्ञा से देवर द्वारा पुत्र उत्पन्न करे।[410] परन्तु साथ ही उनका यह भी कहना है कि जो विधवा वन्ध्या हो, जिसके पुत्र उत्पन्न हो चुके हों, जिसके पुत्र गर्भ का स्राव हो जाता हो, जिसके बच्चे मर गये हों, जो पुत्र उत्पन्न करने के लिए इच्छुक न हो, जिस स्त्री के सम्बन्ध का कोई फल न होने वाला हो, ऐसी स्त्री के साथ सम्बन्ध स्थापित नहीं करने चाहिए।[411]

आपस्तम्ब के अनुसार क्षेत्रज पुत्र की कामना करने वाली स्त्री को पति के गोत्र से भिन्न गोत्र वाले पुरुष से नियोग के लिए सम्बन्ध स्थापित नहीं करने चाहिए अर्थात् पति के गोत्र के पुरुष से ही नियोग द्वारा पुत्र उत्पन्न करना चाहिए वहाँ भी देवर से उसके अभाव में सपिण्ड हो क्योंकि यह कहा गया है कि कन्या एक कुल को

---

406. जीवतश्च क्षेत्रे। वही, २/९/११

407. नातिद्वितीयम्। वही, २/९/८

408. रक्षणात्तु भर्तुरेव। वही, २/९/१४

409. संवत्सरं प्रेतपत्नी मधुमांसमद्यलवणानि वर्जयेदघश्शयीत। *बौधा. ध.* २/२/४/७

410. अत ऊर्ध्वं गुरुभिरनुमता देवराज्जनयेत् पुत्रमपुत्रा। वही, २/२/४/९

411. वशा चोत्पन्नपुत्रा च नीरजस्का गतप्रजा। नाऽकामा सन्नियोज्या स्यात् फलं यस्यां न विद्यत इति।। वही, २/२/४/१०

दी जाती है अर्थात् कन्या केवल पति को ही नहीं, पति के कुल को दी जाती है।[412] साथ ही उनका यह भी कथन है कि नियोग का नियम अब निषिद्ध हो गया है क्योंकि पुरुषों की इन्द्रियाँ दुर्बल हो गयी हैं अब वे संयम नहीं रख पाते।[413]

वसिष्ठ के अनुसार विधवा को छह माह तक विधवा धर्म का पालन करने के पश्चात् गुरुजनों की आज्ञा से नियोग करना चाहिए परन्तु ऐसी विधवा को नियोग के लिए नियुक्त नहीं करना चाहिए जो उन्मत्त, पागल, बीमार तथा अधिक आयु की हो। उनके अनुसार नियोग केवल युवावस्था के सोलह वर्ष पश्चात् तक ही करना चाहिए। नियोग के लिए बीमार व्यक्ति को नियुक्त नहीं करना चाहिए।

नियुक्त व्यक्ति को पति की तरह रात्रि के अन्तिम प्रहर में ब्राह्ममुहुर्त में विधवा के पास जाना चाहिए लेकिन उसके साथ न तो रति क्रीड़ा, न अश्लील भाषण और न ही दुर्व्यवहार करना चाहिए। धन प्राप्ति के लोभ से नियोग नहीं करना चाहिए।[414] साथ ही सम्पत्ति प्राप्ति के लोभ से भी नियोग नहीं करना चाहिए जो सम्पत्ति के लालच में ऐसा करता है तो उसे प्रायश्चित्त करना चाहिए।[415] उनका यह भी कथन है कि यदि विधवा गुरुजनों की बिना नियुक्त किये किसी अन्य पुरुष से सम्बन्ध प्राप्त कर पुत्र प्राप्त करती है तो वह पुत्र उसके पति का नहीं अपितु उत्पन्न करने वाले का माना जाता है।[416] परन्तु नियुक्त पुरुष के साथ सम्बन्ध स्थापित करने पर उत्पन्न सन्तान दोनों की मानी जाती है[417]

---

412. सगोत्रस्थानीयां न परेभ्यस्समाचक्षीत। कुलायहि स्त्री प्रदीयत इत्युपदिशन्ति। *आप. ध.* २/१०/२७/२-३

413. तदिन्द्रियदौर्बल्याद्विप्रतिपन्नम्। वही, २/१०/२७/४

414. *वसि. ध.* १७/५५-६१

415. रिक्थलोभान्नास्ति नियोगः। प्रायश्चित्तं वाप्युपदिश्य नियुञ्ज्यादित्येके। वही, १७/६५-६६

416. अनियुक्तायामुत्पन्न उत्पादयितुः पुत्रो भवतीत्याहुः। वही, १७/६३

417. स्याच्चेन्नियोगिनो। वही, १७/६४

पी.वी. काणे महोदय के अनुसार नियोग के लिए निम्न लिखित दशाएँ आवश्यक थी।

1. जीवित या मृत, पति पुत्र हीन होना चाहिए।
2. कुल के गुरुजनों द्वारा ही निर्णीत पद्धति से पति के लिए पुत्र उत्पन्न करने के लिए पत्नी को नियोजित करना चाहिए।
3. नियोजित पुरुष को पति का भाई (देवर), सपिण्ड, या पति का सगोत्र (के अनुसार सप्रवर या अपनी जाति का) होना चाहिए।
4. नियोजित पुरुष एवं नियोजित विधवा में कामुकता का पूर्ण अभाव एवं कर्तव्य ज्ञान का भार रहना चाहिए।
5. नियोजित पुरुष के शरीर पर घृत या तेल का लेप लगा रहना चाहिए, उसे न तो बोलना चाहिए, न चुम्बन करना चाहिए और न स्त्री के साथ किसी प्रकार की रतिक्रीड़ा में संयुक्त होना चाहिए।
6. यह सम्बन्ध केवल एक पुत्र उत्पन्न होने तक (अन्य मतों से दो पुत्र उत्पन्न होने तक) रहता है।
7. नियुक्त विधवा को अपेक्षा कृत युवा होना चाहिए, उसे वृद्धा, वन्ध्या, अतीतप्रजनन शक्ति, बीमार, इच्छा हीन या गर्भवती नहीं होना चाहिए।
8. एक पुत्र उत्पत्ति के उपरान्त दोनों को एक दूसरे से अर्थात् नियुक्त पुरुष को श्वसुर सा एवं नियुक्त विधवा या स्त्री को वधू सा व्यवहार करना चाहिए।[418]

अतः वंश चलाने की इच्छा नियोगप्रथा का कारण बनी। नियोग प्रथा से एक ही संतान उत्पन्न करने का विधान किया गया था। नियोग पितृपक्ष या पतिपक्ष की अनुमति से होता था। नियोग द्वारा सम्बन्ध पति के कनिष्ठ भाई (देवर) से किया जाता था और कुछ विशेष परिस्थियों में ही नियोग को वैध माना गया है।

---

418. काणे, पी.वी., *ध. शा. इति.,* भाग -१, पृ. ३३९

३.४ पंचमहायज्ञ और लोकाचार :-

गृहस्थाश्रम में विवाहित युगल को सामाजिक बन्धनों में रहकर जिन आचारों का पालन करना पड़ता था, पंचमहायज्ञ उनमें से एक आचार है। यज्ञ शब्द की उत्पत्ति यज् धातु से होती है। जिसका अर्थ देवपूजा (देवपूजा शब्द से होम का ग्रहण होता है)।[419] संगतिकरण तथा दान देना है। इन्हीं यज्ञ, अध्ययन और दान को छान्दोग्योपनिषद् में धर्म का प्रथम स्कन्ध माना है।[420] शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि **"यज्ञो वैश्रेष्ठतमं कर्म।"**[421] तथा अथर्ववेद में इसे भुवन की नाभि कहा गया है।[422]विवाह के उपरान्त जब नव दम्पत्ति गृहस्थाश्रम की दहलीज पर कदम रखते थे, तब इस आश्रम में उनका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कर्तव्य पंचमहायज्ञों का सम्पादन करना माना जाता है। पंचमहायज्ञों का गृहस्थ जीवन में महत्त्वपूर्ण योगदान है। ये प्रत्येक गृहस्थ के लिए अनिवार्य बताए गये हैं। विष्णु धर्मसूत्रकार के अनुसार व्यक्ति अग्नि जलाने, कूटने-पीसने, पानी भरने तथा घर की सफाई आदि दैनिक कार्यों के करने में न चाहते हुए भी जीव हिंसा करता रहता है इस प्रकार के पाप निवारण के लिए प्राचीन ऋषियों ने इन पंचमहायज्ञों का विधान किया था।[423] ये पंचमहायज्ञ निम्नलिखित होते हैं।[424]

---

419. ऋषि दयानन्द सरस्वती, *वेदविरुद्धमतखण्डनः*, प्रथम खण्ड, पृ. ६७९

420. त्रयो धर्मस्कन्धाः यज्ञाध्ययनदानमिति प्रथमः। *छा. उ.* २/२३/१

421. *श. ब्रा.* १/७/१/५

422. 'अयम् यज्ञो भुवनस्य नाभि। *अथर्व.*

423. कण्डनी पेषणी चुल्भी कुम्भ उपस्कर इति पञ्च सूना गृहस्थस्य। तन्निष्कृत्यर्थं च ब्रह्मदेवभूतपितृनरयज्ञान्कुर्यात्। *वि. ध.* ५९/१९-२०

424. देवपितृमनुष्यभूतर्षिपूजकः। *गौ. ध.* १/५/३, अथेमे पञ्च महायज्ञास्तान्येव महासत्राणि-देवयज्ञः पितृयज्ञो भूतयज्ञो मनुष्ययज्ञो ब्रह्मयज्ञ इति। *बौधा. ध.*२/६/११/१,तेषां महायज्ञा महासत्राणीति च संस्तुतिः। *आप.ध.* १/४/१२/१५

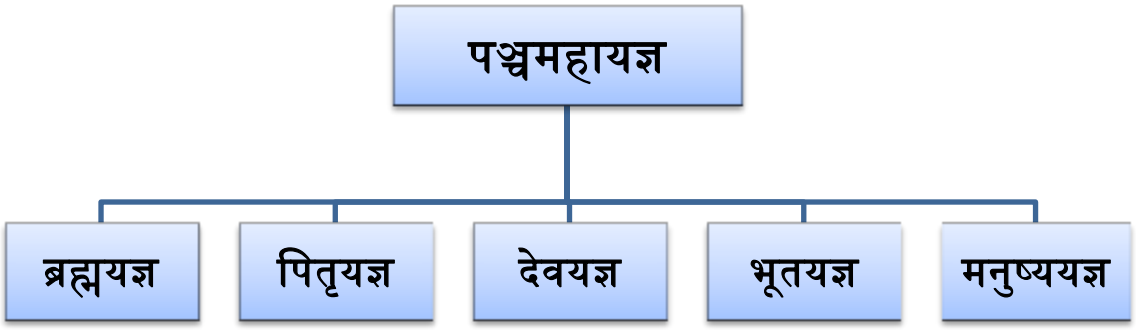

गौतम ने इन पंचमहायज्ञों की गणना ४८ संस्कारों में की है।[425] मनुस्मृतिकार ने इस विषय पर कहा भी है कि -

" ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा।

नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत्॥ "[426]

इन पंचमहायज्ञों के सम्पादन के लिए किसी पुरोहित या विधि-विधान की आवश्यकता नहीं होती थी अपितु गृहस्थ स्वयं अपनी पत्नी तथा पुत्रों की सहायता से सम्पन्न करता था। बौधायन तथा आपस्तम्ब ने इनको ही महासत्र भी कहा है।[427]

३.४.१ ब्राह्मयज्ञ :-

ब्राह्मयज्ञ को ऋषियज्ञ भी कहा गया है। इस यज्ञ से अभिप्राय वेदों के स्वाध्याय करने से था।[428] सम्भवतः इस यज्ञ का उद्देश्य ब्राह्मचर्याश्रम में प्राप्त ज्ञान राशि को स्मृति पटल पर ज्यों का त्यों रखने से रहा होगा। गौतम तथा बौधायन ने

---

425. पञ्चानां यज्ञानामनुष्ठानं देवपितृमनुष्यभूतब्रह्मणाम्। *गौ. ध.* १/८/१७

426. *वि. मनु.* ४/१३ (४/३१)

427. अथेमे पञ्च महायज्ञास्तान्येव महासत्राणि-देवयज्ञः पितृयज्ञो भूतयज्ञो मनुष्ययज्ञो ब्रह्मयज्ञ इति। *बौध. ध.* २/६/११/१, तेषां महायज्ञा महासत्राणीति च संस्तुतिः। *आप.ध.* १/४/१२/१५

428. स्वाध्यायो वै ब्रह्मयज्ञः। *बौधा. ध.* २/६/११/७, स्वाध्यायो ब्रह्मयज्ञः। *वि.ध.* ५९/२१

इस यज्ञ के समर्थन के विषय में कहा है कि मनुष्य को प्रतिदिन वैदिक ग्रन्थों का अध्ययन अवसर के अनुसार करना चाहिए।[429]

आपस्तम्ब के अनुसार नित्य स्वाध्याय करना तप के समान होता है चाहे वह खड़े होकर स्वाध्याय करे या बैठकर या सोकर, वह तप ही करता है क्योंकि स्वाध्याय तप ही है।[430]

अन्यत्र आपस्तम्ब ने वाजसनेयीब्राह्मण के उद्धृत करते हुए कहा है कि स्वाध्याय एक प्रकार का दैनिक यज्ञ है, जिसमें ब्राह्म ही यज्ञ का साधन है, जिस प्रकार दर्शपूर्णमास आदि में पुरोडाश साधन होता है, जो मेघगर्जन होती है, जो विद्युत की चमक होती है, जब वज्रपात होता है, तो वही सब स्वाध्याय यज्ञ का वषट्कार शब्द है। इस कारण मेघ गर्जन होने पर, विद्युत चमकने पर, वज्रपात होने पर तथा आँधी चलने पर भी अध्ययन करना चाहिए, अन्यथा ये वषट्कार रूप शब्द व्यर्थ हो जायेंगे।[431]

बौधायन ने ब्राह्मयज्ञ के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए कहा है कि इस स्वाध्याय रूपी ब्राह्मयज्ञ में वाणी ही जुहू है, मन उपभृत है, चक्षु ध्रुवा के स्थान पर होता है, बुद्धि स्रुवा का कार्य करती है, सत्य अवभृत है और स्वर्ग लोक उदयन या यज्ञ की परिसमाप्ति है। जितना स्वर्गफल इस धनधान्यपूर्ण सम्पूर्ण पृथ्वी का दान करने वाला पाता है उतना या उससे भी अधिक स्वर्गफल, वह व्यक्ति प्राप्त करता है, जो ज्ञान सम्पन्न तथा स्वाध्याय करता है। इस प्रकार ब्राह्मयज्ञ करने वाला अक्षय मोक्ष प्राप्त

---

429. नित्यस्वाध्यायः। *गौ. ध.* १/५/४, अहरहस्वाध्यायं कुर्यादा प्रणवात्तथैतं ब्रह्मयज्ञं समाप्नोति। *बौधा. ध.* २/६/११/६,

430. तपः स्वाध्याय इति ब्राह्मणम्। तत्र श्रुयते स यदि तिष्ठन्नासीनः शयानो वा स्वाध्यायमधीते तप एव तत्तप्यते तपो हि स्वाध्याय इति। *आप. ध.* १/४/१२/१-२

431. अथापि वाजसनेयिब्राह्मणम् ब्रह्मयज्ञो ह वा एष यत्स्वाध्यायस्तस्यैते वषट्कारा यत्स्तनयति यद्विद्योतते यदवस्फूर्जति यद्वातो वायति। तस्मात् स्तनयति विद्योतमानेऽवस्फूर्जति वाते वा वायत्यधीयीतैव वषट्काराणामच्छम्बट्कारायेति। वही, १/४/१२/३

करता है और पुनर्मरण पर विजय कर लेता है।[432] इसलिए कहा गया है कि व्यक्ति को स्वाध्याय करते रहना चाहिए।[433]

आपस्तम्ब के टीकाकार हरदत्त मिश्र के अनुसार जो फल कृच्छ्र, अतिकृच्छ्र तथा चान्द्रायण आदि तपों का होता है वही फल स्वाध्याय का होता है।[434] अतः स्पष्ट है कि ब्राह्मयज्ञ हमारे जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। आज भी समाज में माता - पिता तथा आचार्य गण स्वाध्याय पर बल देते हैं।

३.४.२ पितृयज्ञ :-

व्यक्ति जन्म प्राप्ति से ही माता - पिता का ऋणी होता है क्योंकि उन्हीं की कृपा से वह इस संसार में आता है और उसके पालन पोषण से ही जीवन में आगे बढ़ता हैं। उनके प्रति आदर और सम्मान प्रकट करना अर्थात् उनकी सेवा करना ही पितृयज्ञ होता है। यह यज्ञ दो प्रकार से सम्पन्न किया जाता था। प्रथम श्राद्ध से द्वितीय तर्पण के माध्यम से। गौतम के अनुसार पितरों के लिए जल और अपनी शक्ति के अनुसार अन्य भोज्य पदार्थ अर्पित करना चाहिए।[435] बौधायन के अनुसार इस यज्ञ में प्रतिदिन पितरों को जल से पूर्ण पात्र 'स्वधा' के साथ अर्पित करना चाहिए।[436]आपस्तम्ब के अनुसार दक्षिण की और 'स्वधा पितृभ्य' मंत्र से प्राचीनावती होकर अर्थात् यज्ञोपवीत को दाहिने कन्धे के ऊपर से तथा बायें कक्ष के नीचे से धारण कर इस प्रकार दाहिनी हथेली को ऊपर की ओर उठाये हुए बलि अर्पित करनी

---

[432]. तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मयज्ञस्य वागेव जुहूर्मन उपभृच्चक्षुर्ध्रुवा मेघा स्रुवः सत्यमवभृथस्स्वर्गो लोक उदयनं यावन्तं ह वा इमां वित्तस्य पूर्णां ददत्स्वर्गं लोकं जयति भूर्यासं चाऽक्षय्यं चाऽप पुनर्मृत्युं जयति य एवं विद्वान् स्वाध्यायमधीते। *बौधा. ध.* २/६/११/८

[433]. तस्मात्स्वाध्यायोऽध्येतव्य इति हि ब्राह्मणम्। वही, २/६/११/९

[434]. हरदत्त मिश्र की टीका। *आप. ध.* १/४/१२/१

[435]. पितृभ्यश्चोदकदानं यथोत्साहमन्यत्। *गौ. ध.* १/५/५

[436]. अहरहस्स्वधाकुर्यादोदपात्रात्तथैतं पितृयज्ञं समाप्नोति। *बौधा. ध.* २/६/११/३

चाहिए।[437] विष्णु के अनुसार भी पितरों को भोजन तथा जल प्रदान करना पितृयज्ञ कहलाता है।[438]

३.४.३ देवयज्ञ :-

गौतम के अनुसार इस यज्ञ में विवाह की अग्नि में अग्नि, धन्वन्तरि, विश्वेदेवा, प्रजापति और स्विष्टकृत के साथ 'स्वाहा' शब्द जोड़ कर हवन किया जाता था।[439] बौधायन के अनुसार यह यज्ञ प्रतिदिन देवताओं के लिए 'स्वाहा' शब्द के उच्चारण के साथ अग्नि में केवल एक काष्ठ का टुकड़ा तक भी हवन के रूप में अर्पित कर के किया जा सकता है। इस प्रकार देवयज्ञ का अनुष्ठान करना चाहिए।[440] विष्णु ने भी इसका समर्थन किया है।[441]

आपस्तम्ब के अनुसार देवों के लिए स्वाहा शब्द के साथ काठ तक की आहुति दी जाती थी। यहाँ आकाष्ठात् का अर्थ है कि अन्न भी हो तो काठ तक की आहुति देवों के लिए दी जाती है। इसका अर्थ यह भी लिया जाता है कि जिस किसी तरह वैश्वदेव कर्म करना चाहिए। कुछ अन्य धर्मज्ञों के अनुसार भोजन का अभाव होने पर वैश्वदेव नहीं करना चाहिए।[442] प्रायः समाज में यह धारणा थी कि व्यक्ति के पास जो कुछ भी है वह देवताओं की कृपा से ही है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वह उसमें से कुछ अंश देवताओं को अर्पित करे। यह यज्ञ पति-पत्नी द्वारा जीवन पर्यन्त किया जाता था। एक प्रकार से यह यज्ञ विवाह के समय प्रज्वलित अग्नि को निरन्तर

---

437. दक्षिणतः पितृलिङ्गेन प्राचीनावीत्यवाचीनपाणि कुर्यात्। *आप. ध .* २/२/४/५

438. पितृतर्पणं पित्र्यः। *वि. ध.* ५९/२३

439. तस्मिन्गृह्याणि कर्माणि। अग्नावग्निर्धन्वन्तरिर्विश्वे देवाः प्रजापतिः स्विष्टकृदिति होमः। *गौ.ध.* १/५/७-९

440. अहरहस्स्वधाकुर्यादा काष्ठात् तथैतं देवयज्ञं समाप्नोति। *बौधा.ध.* २/६/११/२

441. होमो दैवः। *वि. ध.* ५९/२२

442. देवेभ्यः स्वाहाकार आ काष्ठात् पितृभ्यः स्वाधाकार ओदपात्रात् स्वाध्याय इति। *आप.ध.* १/४/१३/१

प्रदीप्त करने का प्रतीक था। पति-पत्नी में से किसी एक भी मृत्यु होने पर उसका अन्तिम संस्कार इसी अग्नि से किया जाता था। लेकिन कालान्तर में यज्ञ सम्बन्धी प्राचीन विचार गौण हो गये और इसका स्थान देवपूजा अर्थात् घर में रखी मूर्तियों के पूजन की विस्तृत विधि ने ले लिया।[443]

३.४.४ भूतयज्ञ :-

इस यज्ञ का विधान भोजन से पूर्व होता है। इस यज्ञ के द्वारा देव, पितर, पशु-पक्षी, कीड़े - मकोड़ों आदि को तृप्त किया जाता था अर्थात् भोजन निर्माण के बाद स्वयं भोजन ग्रहण करने से पूर्व अपाहिज मनुष्य, रोगी, पशु - पक्षी, कीड़े - मकोड़ों आदि प्राणियों को अन्न का दान दिया जाता है। इस यज्ञ को बलि हरण तथा बलिवैश्वदेव यज्ञ भी कहा जाता है। बौधायन के अनुसार इस यज्ञ में प्रतिदिन प्राणियों के प्रति पुष्पों द्वारा पूजा आदि करते हुए आदर व्यक्त करें।[444]

आपस्तम्ब ने अनुसार बलि कर्मों के लिए प्रयुक्त वैदिक मन्त्रों को सीखते समय गृहस्थ १२ दिन तक भूमि पर शयन करें, मैथुन न करें, मसालेदार तथा नमकीन भोजन का त्याग करें।[445] उन्होंने न केवल मन्त्रों के सीखने का विधान किया अपितु बलि रखने के सन्दर्भ में कहा कि जिस जिस स्थान पर बलि(भोज्य पदार्थ) को रखना होता था, उन स्थानों को पहले हाथ से साफ किया जाता था और फिर हाथ को नीचे कर वहाँ जल छिड़क दिया जाता था। उसके बाद वहाँ बलि रखी जाती थी इसके पश्चात् पुनः उसके चारों ओर जल छिड़क दिया जाता था।[446] उनके अनुसार सबसे

---

443. काणे, पी.वी., *ध. शा. इति.*, भाग-१, पृ. ३८८

444. अहरहर्नमस्कुर्यादा पुष्पेभ्यस्तथैतं भूतयज्ञं समाप्नोति। *बौधा. ध.* २/६/११/४

445. तेषां मन्त्राणामुपयोगे द्वादशाहमधश्शय्या ब्रह्मचार्यं क्षारलवणवर्जनं च। *आप. ध.* २/२/३/१३

446. बलीनां तस्य तस्य देशे संस्कारो हस्तेन परिमृज्याऽवोक्ष्य न्युप्य पश्चात्परिषेचनम्। *वही,* २/२/३/१५

पहले अतिथियों को भोजन कराना चाहिए।[447] उसके बाद बालकों, वृद्धों, रोगियों को, सम्बन्ध की स्त्रियों को तथा गर्भवती स्त्रियों भोजन कराना चाहिए उसके बाद स्वयं भोजन करे।[448] बलिहरण के बाद भोजन का कुछ अंश भिक्षुक को देना चाहिए।[449]

साथ ही उन्होंने इसके महत्त्व को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जो अन्न गृहस्थ और उसकी पत्नी को खाना होता है, उसका होम तथा बलि कर्म स्वर्ग का सुख तथा समृद्धि प्रदान करता है।[450] अन्यत्र यह भी कहा गया है कि जो गृहस्थ समाहित चित्त होकर इन बलियों और होमों को निर्दिष्ट नियमों के अनुसार अर्पित करता है वह नित्य ही स्वर्ग तथा समृद्धि प्राप्त करता है।[451]

३.४.५ मनुष्ययज्ञ :-

बौधायन ने मनुष्ययज्ञ को प्रतिदिन ब्राह्मणों के लिए मूल, फल, शाक आदि अन्न प्रदान करने को कहा है।[452]इस यज्ञ को नृयज्ञ भी कहते हैं। इसका तात्पर्य अतिथि सत्कार से है। गौतम ने अतिथि का लक्षण इस प्रकार किया है कि दूसरे ग्राम में रहने वाले, केवल एक रात्रि निवास करने वाले और वृक्षों के ऊपर सूर्य के अधिष्ठित रहने के समय अर्थात् मध्याह्न या सायंकाल के समय आने वाले को अतिथि कहते हैं।[453]

---

447. अतिथीनेवाऽग्रे भोजयेत्। *वही,* २/२/४/११

448. बालान्वृद्धान्रोगसम्बन्धान्स्त्रीश्चान्तर्वत्नीः। *वही,* २/२/४/१२

449. अग्रं च देयम्। *आप. ध.* २/२/४/१०

450. गृहमेधिनो यदशनीयं तस्य होमा बलयश्च स्वर्गपुष्टिसंयुक्ताः। *आप. ध.* २/२/३/१२

451. य एतानव्यग्रो यथोपदेशं कुरुते नित्यः स्वर्गः पुष्टिश्च। *आप. ध.* २/२/४/९

452. अहरहर्ब्राह्मणेभ्योऽन्नं दद्यादा मूलफलफशाकेभ्यस्तथैतं मनुष्ययज्ञं समाप्नोति। *बौधा. ध.* २/६/११/५

453. ससमान ग्रामोऽतिथिरैकरात्रिकाऽधिवृक्षसूर्योपस्थायी। *गौ.ध.* १/५/३६

आपस्तम्ब ने इसका विस्तार पूर्वक वर्णन किया है उनके अनुसार जो व्यक्ति अपने धर्म में रत रहने वाले गृहस्थ के यहाँ केवल धर्म के प्रयोजन से जाता है, किसी अन्य प्रयोजन से नहीं वह अतिथि होता है।[454]

भारतवर्ष में प्राचीन काल से ही अतिथि सत्कार का विशेष महत्त्व रहा है। अतिथि सत्कार गृहस्थ का अनिवार्य कर्तव्य माना जाता था। उसे देवता के समान माना जाता था।[455] अतिथि चाहे किसी भी वर्ण अथवा जाति का हो, परिचित हो या अपरिचित, सबको घर में ठहराना, उसका समुचित आदर सत्कार करना तथा उसको भोजन कराना गृहस्थ का परम कर्तव्य माना जाता था।[456] आपस्तम्ब ने तो चण्डाल अतिथि तक के स्वागत का वर्णन किया है।[457] लेकिन कुछ आचार्यों का मत है कि अयोग्य पात्रों (चाण्डाल आदि जैसे) को कुछ भी नहीं देना चाहिए।[458] वसिष्ठ के अनुसार इस सम्बन्ध में वर्ण क्रम का ध्यान रखा जाता था अर्थात् योग्यतम व्यक्ति का सम्मान सबसे पहले किया जाना चाहिए।[459] गौतम के अनुसार अतिथि श्रोत्रिय (वेदज्ञानी) ब्राह्मण हो तो पैर धोने के लिए जल, अर्घ्य (फल, ताम्बूल आदि) और विशेष अन्न (खीर, पुआ आदि) देकर विशेष रूप से सत्कार करना चाहिए और विशेष भोजन न होने पर घर में जो नित्य जो भोजन बनता हो उसे ही विशेष स्वादयुक्त बनाकर ब्राह्मण को खिलाना चाहिए।[460] यदि अतिथि विद्याहीन होने पर भी सदाचारी हो उसे मध्यकोटी का भोजन कराना चाहिए परन्तु इसके विपरीत (विद्या

---

454. स्वधर्मयुक्तं कुकुम्बिनमभ्यागच्छति धर्मपुरस्कारो नाऽन्यप्रयोजनः सोऽतिथिर्भवति। *आप.ध.* २/३/६/५

455. अतिथिदेवो भव। *तै. उ.* १/११/२

456. *वि. ध.* ६७/३५-३८

457. सर्वान्वैश्वदेवे भागिनः कुर्वीता श्वचण्डालभ्यः। *आप. ध.* २/४/९/५

458. नाऽनर्हद्भ्यो दद्यादित्येके। *आप. ध.* २/४/९/६

459. ततोतिथिं भोजयेच्छ्रेयांसं श्रेयांसमानुपूर्व्येण। *वसि. ध.* ११/६

460. श्रोत्रियस्य तु पाद्यमर्घ्यमन्नविशेषांश्च प्रकारयेत्। नित्यं वा संस्कारविशिष्टम्। *गौ. ध.* १/५/३०-३१

से युक्त होते हुए भी दुराचारी) को तृण, जल, स्थान देकर स्वागत के वचनों से उसका आदर सत्कार करना चाहिए, संभाषण से पूजा करनी चाहिए तथा मध्यमकोटि का भोजन कराना चाहिए।

लेकिन जो अतिथि विद्या, वृत्ति आदि में अपने समान हो और जो अपने से श्रेष्ठ हो उन दोनों प्रकार के अतिथियों को अपने समान शय्या, आसन और घर में निवास स्थान देना चाहिए, उसके पीछे - पीछे चलना चाहिए और समीप में उपस्थित रहना चाहिए।

अपने से कुछ ही हीन अतिथि के आने पर भी समान ही शय्या आदि देनी चाहिए।[461] साथ ही आतिथ्य के समय आये हुए शूद्रों आदि को सेवकों के साथ दया के कारण भोजन कराना चाहिए।[462]

आपस्तम्ब के अनुसार गृहस्थ को अतिथियों के भोजन कराने के बाद ही स्वयं भोजन करना चाहिए।[463] लेकिन जो गृहस्थ अपने अतिथि से पहले भोजन करता है तो वह अपने कुल के अन्न को, समृद्धि को, सन्तान को, पशु को एवं पुण्य फलों का ही भक्षण करता है अर्थात् उनको नष्ट करता है।[464] परन्तु विष्णु के अनुसार नवविवाहिता पुत्रियों एवं बहनों, अविवाहित कन्याओं रोगियों एवं गर्भवती नारियों को अतिथियों से पूर्व ही खिला देना चाहिए।[465] किन्तु गौतम के अनुसार गृहस्थ इनको अतिथि के समय ही अपने से पहले भोजन खिलाना चाहिए[466] बौधायन ने इस

---

461. मध्यतोऽन्नदानमवैद्ये साधुवृत्ते। विपरीतेषु तृणोदकभूमिस्वागतमन्ततः पूजाऽनत्याशश्च। शय्यासनावसथानुव्रज्योपासनानि सदृक्श्रेयसोः समानानि। अल्पशोऽपि हीने। *गौ. ध.* १/५/३२-३५

462. अन्यान्भृत्यैः सहाऽनृशंस्यार्थमानृशंस्यार्थम्। *गौ. ध.* १/५/४२

463. शेषभोज्यतिथीनां स्यात्। *आप. ध.* २/४/८/२

464. ऊर्जं पुष्टिं प्रजां पशूनिष्टापूर्तमिति गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति। *आप. ध.* २/३/७/३

465. स्ववासिनीं कुमारीं च रोगिणीं गुर्विणीं तथा।
अतिथिभ्योऽग्र एवैतान्भोजयेदविचारयन्।। *वि. ध.* ६७/३९

466. भोजयेत्पूर्वमतिथिकुमारव्याधितगर्भिणीस्ववासिनीस्थाविराञ्जघन्यांश्च। *गौ. ध.* १/५/२३

विषय पर कहा है कि गृहस्थी को सबसे पहले अतिथियों को भोजन कराना चाहिए, फिर गर्भिणी स्त्रियों की, उसके बाद बालकों और वृद्धों को भोजन कराना चाहिए उसके पश्चात् दुःखी व्यक्तियों को और रोगी व्यक्ति को भोजन कराना चाहिए।[467] लेकिन जो व्यक्ति पहले उपर्युक्त व्यक्तियों को नियमपूर्वक भोजन कराये बिना स्वयं भोजन करता है वह नहीं जानता कि स्वयं उसी का भक्षण होता है, वह खाता नहीं बल्कि खाया जाता है।[468]

गृहस्थ का यही धर्म है कि वह पितरों, देवों, सेवकों, माता-पिता तथा गुरुओं को भोजन खिलाने के बाद अवशिष्ट भोजन मौन होकर ग्रहण करे।[469] आपस्तम्ब के अनुसार घर में रखे हुए दूध आदि रसवाले पदार्थों को पूरी तरह समाप्त नहीं करना चाहिए अपितु अतिथि के आने की सम्भावना से कुछ शेष रखना चाहिए।[470] साथ ही यह भी कहा कि वेद न जानने वाला ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य घर आये तो उसे आसन, जल और भोजन देना चाहिए। किन्तु उठकर आवभगत नहीं करनी चाहिए।[471] यदि अतिथि के रूप में कोई शूद्र ब्राह्मण के घर आता है तो उसे कोई कार्य देना चाहिए तथा कार्य समाप्ति पर अभ्यागत को भोजन प्रदान करना चाहिए।[472] अतिथि की विदाई के विषय में कहा गया है कि यदि उसके पास कोई यान न हो तो जहाँ वह यान पर चढ़े उस स्थान तक पहुँचाने जाना चाहिए। उसके साथ उस समय तक चलना

---

467. अग्रे भोजयेदतिथीनन्तर्वत्नीरनन्तरम्।
बालवृद्धांस्तर्था दीनान् व्याधितांश्च विशेषतः॥ *बौधा. ध.* २/७/१३/५

468. अदत्वा तु य एतेभ्यः पूर्व भुङ्क्ते यथाविधि।
भुज्यमानो न जानाति न स भुङ्क्ते स भुज्यते॥ *बौधा. ध.* २/७/१३/६

469. पितृदैवतभृत्यानां मातापित्रोर्गुरोस्तथा।
वाग्यतो विघसमश्नीयादेवं धर्मो विधीयते इति॥ वही, २/७/१३/७

470. न रसान् गृहे भुञ्जीताऽनवशेषमतिथिभ्यः। *आप. ध.* २/४/८/३

471. ब्राह्मणायाऽनधीयानायासनमुदकमन्नमिति देयं न प्रत्युत्तिष्ठेत्। वही, २/२/४/१६

472. शूद्रमभ्यागतं कर्मणि नियुञ्ज्यात्। अथाऽस्मै दद्यात्। वही, २/२/४/१९-२०,

चाहिए जब तक वह उसे वापिस लौटने को ना कहे। लेकिन यदि अतिथि उसे लौटने के लिए कहने का ध्यान न रखें तो गाँव की सीमा तक पहुँचाकर लौटना चाहिए।[473]

अतः घर आये अतिथि की उठकर अगवानी करना, उसकी अवस्था के अनुसार उसका आदर सत्कार करना, उसके लिए आसन लाना, उसके पैरों को धोना अथवा दो शूद्रों द्वारा धुलवाना (एक जल गिरावे, दूसरा धोवे), मिट्टी के पात्र में जल लाना, उसके साथ सौहार्दपूर्ण सम्भाषण करना, दूध तथा अन्य पेय पदार्थों से उसे सन्तुष्ट करना, खाद्य पदार्थों से तृप्त करना, उसको रहने के लिए स्थान, सोने के लिए शय्या, चटाई, तकिया, चादर, अञ्जन आदि आवश्यक वस्तुएँ प्रदान करना प्रत्येक गृहस्थ का अनिवार्य कर्तव्य होता है।[474] उनके अनुसार सबसे पहले अतिथियों को भोजन कराना चाहिए।[475] यदि अतिथि परिवार के सभी सदस्यों के भोजन करने के बाद आता है तो रसोई बनाने वाले को बुलाकर अतिथि के भोजन की व्यवस्था करनी चाहिए और यदि अतिथि के आने पर भोजन तैयार हो तो स्वयं भोजन का अंश यह कहते हुए निकाले कि यह अंश अधिक है उससे अतिथि सत्कार करे।[476]इसी क्रम में यह भी कहा गया कि यदि भोजन का अभाव हो तब भी बैठने का स्थान, पाद प्रक्षालनादि के लिए जल, शयन - आसन तथा स्वागत स्वरूप मधुर वचनों से ही अतिथि का सत्कार करना चाहिए क्योंकि सज्जनों के पास इनका कभी अभाव नहीं होता है।[477] इस प्रकार इन यज्ञों के द्वारा व्यक्ति अपने समाज और परिवार के प्रति अपने आचारों का निर्वहण करता है।

---

473. यानवन्तमा यानात्। यावन्नाऽनुजानीयादितरः। अप्रतीभायां सीम्नो निवर्तेत। वही, २/४/९/२-४

474. तमभिमुखोऽभ्यागम्य यथावयस्समत्य तस्यासनमाहारयेत्। *आप.ध.* २/३/६/७-१५

475. अतिथीनेवाऽग्रे भोजयेत्। *आप.ध.* २/२/४/११

476. उद्धृतान्यन्नान्यवेक्षेतेदं भूया३इद३मिति। *आप.ध.* २/३/६/१७

477. अभावे भूमिरुदकं तृणानि कल्याणी वागित्येतानि वै सतोऽगारे न क्षीयन्ते कदाचनेति। *आप.ध.* २/२/४/१४

३.५ ऋण त्रय से मुक्ति :-

मनुष्य के जीवन निर्माण में गुरुजन, देव तथा पितरों (माता - पिता) का सबसे अधिक योगदान होता है। इस प्रकार मनुष्य पर इन तीनों का ऋण होता है। इन तीन ऋणों से उऋण (मुक्त) होना गृहस्थ का महत्त्वपूर्ण कार्य माना जाता था क्योंकि गृहस्थाश्रम में रहकर ही व्यक्ति इन ऋणों से मुक्त हो सकता था। प्रायः सभी धर्मसूत्रकारों ने तीन ऋणों का वर्णन किया है, ये तीन ऋण हैं - ऋषिऋण, देवऋण तथा पितृऋण।[478]

बौधायन के अनुसार ब्राह्मण जन्म से ही तीन ऋणों से युक्त होता है इन ऋणों से मुक्त होकर ही वह धर्म के आचरण विषयक संशय से मुक्त हो होता है।[479] साथ उन्होंने तीनो ऋणों से मुक्त का उपाय कहा है कि वेद के स्वाध्याय द्वारा ऋषियों की पूजा कर ऋषिऋण से, सोमयज्ञ के सम्पादन से इन्द्र की पूजा कर देवऋण से तथा प्रजा उत्पन्न कर अपने पूर्वज पितरों को प्रसन्न कर पितृऋण से मुक्ति प्राप्त कर मनुष्य स्वर्ग के सुख को प्राप्त करता है।[480] परन्तु इसके विपरीत आचरण अर्थात् बिना वेद का अध्ययन किए, बिना पुत्रों को उत्पन्न किए तथा बिना यज्ञों का अनुष्ठान किए मोक्ष की इच्छा रखने वाला द्विज नरक को प्राप्त करता है[481] वस्तुतः देवऋण तथा ऋषिऋण से मुक्ति तो अन्य आश्रम में रहने वाले भी प्राप्त कर सकते है किन्तु पितृऋण से मुक्ति गृहस्थाश्रम में रहते हुए ही सम्भव है। वर्तमान में इन आचारों की अत्याधिक आवश्यकता है।

---

478. विज्ञायते ही। त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान्ब्राह्मणो जायते इति। *वसि. ध.* ११/४८

479. ब्राह्मणस्यर्णसंयोगस्त्रिभिर्भवति जन्मतः।
तानि मुच्याऽत्मवान् भवति विमुक्तो धर्मसंशयात्॥
बौधा.ध. २/९/१६/४

480. स्वाध्यायेन ऋषीन् पूज्य सोमेन च पुरन्दरम्। प्रजाया च पितॄन्पूर्वाननृणो दिवि मोदते॥
बौधा.ध. २/९/१६/५

481. अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथा सुतान। अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन्व्रजत्यधः।। *मनु.* ६/३७

३.६ पारिवारिक आचार की रूपरेखा :-

सभी आश्रमों में गृहस्थ आश्रम को श्रेष्ठ स्थान प्राप्त है। गृहस्थ आश्रम का आधार परिवार है। परिवार में रहकर ही व्यक्ति गृहस्थ आश्रम के उतरदायित्व और कर्तव्यों का निर्वहन कर सकता है। परिवार ही सामाजिक व्यवस्था का मूल आधार है यहाँ से समस्त सामाजिक व्यवस्था संचालित होती है।

परिवार शब्द की उत्पत्ति - परि उपसर्ग पूर्व 'वृ' धातु से 'घञ्' प्रत्यय लगाने से होती है। परिवार शब्द का अर्थ ढकना, छिपाना, लपेटना आदि। **'परिव्रियते अनेन इति परिवारः'** अर्थात् परिवार व्यक्ति चारों तरफ से आवृत्त करके रखता है।

सभी अनुपादेय, अवांछनीय तत्त्वों से छिपाता है, बचाता है। स्नेह तथा आत्मीयता से स्वजनों को लपेटकर रखता है। अनेक समाज शास्त्रीय विद्वानों ने परिवार की भिन्न - भिन्न परिभाषाएँ दी हैं।

बर्गेस तथा लॉक के अनुसार " परिवार एक ऐसे व्यक्तियों का समूह कहा जा सकता है जो विवाह, रक्त अथवा गोद लेने के सम्बन्धों से संगठित है। एक छोटी सी गृहस्थी का निर्माण करते हैं और पति - पत्नी, माता - पिता, पुत्र - पुत्री, भाई - बहन के रूप में परस्पर अन्तः क्रियाएं करते हैं अथवा अपने - अपने सामाजिक कार्यों के रूप में एक दुसरे पर प्रभाव डालते हैं तथा एक सामान्य संस्कृति को बनाते हुए उसकी रक्षा करते हैं।"[482]

अल्तेकर के मत में "मानव जाति में आत्मरक्षण, वंशवर्धन और जातीय जीवन की निरन्तरता को बनाए रखने का प्रधान साधन परिवार है।"[483] मजूमदार के शब्दों में "परिवार व्यक्तियों का एक समूह है जो एक ही छत के नीचे रहते हैं, जो मूल तथा

---

[482]. Burgess & Locke, The Family, P. 8

[483]. The Position Of Women In Hindu Civilization, P.165

रक्त सम्बन्धी सूत्रों से सम्बन्ध रखते हैं तथा समान रुचि एवं कृतज्ञता की अनन्योन्याश्रितता के आधार पर जागरूकता रखते हैं।[484]

डॉ. श्यामाचरण दूबे के अनुसार परिवार में स्त्री और पुरुष दोनों को सदस्यता प्राप्त रहती है, उनमें से कम से कम दो विपरीत यौन व्यक्तियों को यौन सम्बन्धों की सामाजिक स्वीकृति रहती है और संसर्ग से उत्पन्न सन्तान मिलकर परिवार का निर्माण करती है।[485] गृहस्थ आश्रम का प्रवेश द्वार विवाह कहा गया है।

जिससे वंश बढ़ता है, परिवार बनता है नव विवाहित जब गृहस्थी बनते हैं वे सन्तान उत्पन्न कर माता - पिता बनते हैं, माता - पिता के रूप में पति - पत्नी के रूप में तथा सन्तान के रूप में परिवार के प्रति उनके कुछ अधिकार, उत्तरदायित्व एवं कर्तव्य होते हैं, इन्हीं आचारों का वर्णन यहाँ प्रस्तुत किया है।

३.६.१ पिता के आचार :-

धर्मसूत्रीय काल में परिवार का मुखिया पिता होता था। पिता को सबसे प्रतिष्ठित एवं सर्वोच्च स्थान प्राप्त होता था। परिवार के सभी सदस्य उसे आदर और सम्मान की दृष्टि से देखते थे। पितृ शब्द की व्युत्पत्ति से ही स्पष्ट होता है कि परिवार के सभी सदस्यों की रक्षा करना उसका प्रमुख आचार माना जाता था।[486] जब ब्राह्मचारी समावर्तन संस्कार के उपरान्त घर को लौटता था तो उसे उपदेश दिया जाता था कि आप के माता और पिता देवता के समान पूजनीय हैं।[487] वही पिता को ऋग्वेद[488] में जहाँ कल्याण तथा दया का प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया है गौतम के

---

484. *भारतीय सामाजिक संस्थाएं,* पृ. १९

485. दूबे, श्यामाचरण, *मानव और संस्कृति,* पृ. १०१

486. पति रक्षत्यपत्यं यः स पिता। *शब्दकल्पद्रूम*, तृतीय काण्ड, पृ.१४३

487. मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। *तै. उ.* १/११/२

488. *ऋ.* ४/१७/१७

अनुसार प्रतिदिन माता - पिता आदि उनके बन्धु (मामा - मामी, मौसा - मौसी, चाचा - चाची, बुआ - फूफा, ज्येष्ठ भाई, गुरु और उनके गुरुजन) जहाँ कही भी मिले उनके मिलने पर चरण स्पर्श करना चाहिए।[489] मनु के अनुसार पिता प्रजापति की मूर्ति है। माता और पिता सन्तान को उत्पन्न करने में जिन कष्टों को सहते हैं उनका प्रतिदान सन्तान सौ वर्षों में भी नहीं कर सकता। माता - पिता और आचार्य की आज्ञा का पालन करना चाहिए। इन तीनों की सेवा से परम् तप की प्राप्ति होती है। इनकी सम्मति के बिना कोई धर्माचरण नहीं करना चाहिए। पिता गार्हपत्य अग्नि, माता दक्षिणाग्नि तथा आचार्य आहवनीय अग्नि होते हैं।

जो गृहस्थ इन तीनों के प्रति प्रमाद शून्य रहता है वह तीनों लोकों को जीत लेता है। पिता की भक्ति अन्तरिक्ष लोक को प्राप्त कराती है। जब तक ये तीनों जीवित रहें तब तक व्यक्ति को स्वतन्त्र रूप से धर्म कार्य नहीं करने चाहिए, यथा योग्य इनकी सेवा करनी चाहिए। इनकी सेवा ही परम् धर्म है। अन्य सब धर्म उपधर्म कहे जाते हैं।[490] पुत्र के लालन - पालन करते हुए पिता को दण्ड देने का अधिकार भी होता था। मनु का कथन है कि पुत्र की ताड़ना रस्सी अथवा बाँस की छड़ी से की जानी चाहिए, सिर को छोड़ कर, शरीर के के पिछले भाग अर्थात् पीठ पर आघात किया जा सकता है। जो व्यक्ति इन नियमों की अवहेलना कर ताड़ना करता है। उस व्यक्ति को चोर के समान दिया जाने वाला दण्ड देना चाहिए।[491] पुत्र के अर्जित धन पर पिता का पूरा अधिकार होता है।[492]

---

489. पादोपसंग्रहणं समवायेऽन्वहम्। अभिगम्य तु विप्रोष्य। मातृपितृतद्बन्धूनां पूर्वजानां विद्यागुरूणां तद्गुरूणां च। *गौ. ध.* १/६/१-३

490. *मनु.* २/२२५-२३७

491. भार्या पुत्रश्च दासश्च प्रेष्यो भ्राता च सोदरः। प्राप्तापराधस्ताड्याः स्यु रज्जवा वेणुदलेन वा।।
पष्ठतस्तु शरीरस्य नोत्तमाङ्के कथञ्चन्। अतोऽन्यथा तु प्रहरन्प्राप्तः स्याच्चौरकिल्विषम्॥ *मनु.* ८/२९९-३००

492. भार्या पुत्रश्च दासश्च त्रय एवाधनाः स्मृताः। यत्ते समधिगच्छन्ति यस्य ते तद्धनम्॥ *मनु.* ६/४१६

३.६.२ माता के आचार :-

भारतीय समाज में माता का स्थान सबसे अधिक आदरणीय और महत्त्वपूर्ण रहा है। पुत्र अपनी प्रारम्भिक शिक्षा अपनी माता से ग्रहण करता है। इसलिए गौतम ने माता को श्रेष्ठ गुरु कहा है।[493] उनके अनुसार किसी भी स्थिति में (पतित होने पर भी) माता के साथ अनुचित व्यवहार नहीं करना चाहिए।[494] माता शब्द की व्युत्पत्ति ही 'मान्यते पूज्यते' के रूप में की गयी है।[495]

आपस्तम्ब के अनुसार माता पुत्र के लिए अनेक कर्म करती है, उसकी सेवा सदा करनी चाहिए, भले ही वह पतित हो गयी हो। किन्तु धर्म के निमित्त किए जाने वाले कर्मों में पतिता माता के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध न रखें।[496]

वसिष्ठ के अनुसार आचार्य का गौरव दस उपाध्यायों से अधिक है, पिता सौ आचार्यों से अधिक महत्त्व रखता है और माता का गौरव एक हजार पिताओं से भी अधिक है। अतः माता की सेवा - शुश्रूषा और भरण - पोषण करना पुत्र का परम आचार है।[497] विष्णु के अनुसार मनुष्य के लिए तीन व्यक्ति पिता, माता और आचार्य सबसे अधिक प्रतिष्ठित हैं।[498] अतः इनकी हमेशा सेवा - शुश्रूषा करनी चाहिए।[499] वे

---

493. आचार्यः श्रेष्ठो गुरूणां मातेत्येके। *गौ. ध.* १/२/५६

494. न कर्हिचिन्मातापित्रोरवृत्तिः। वही, ३/३/१५

495. आप्टे, संस्कृत हिन्दी कोश, पृ. ७९१

496. माता पुत्रत्वस्य भूयांसि कर्माण्यारभते तस्यां शुश्रुषा नित्या पतितायामपि। न तु धर्मसन्निवापः स्यात्।
आप. ध. १/१०/२८/९-१०

497. उपाध्यायाद्दशाचार्या आचार्याणां शतं पिता। पितुर्दशशतं माता गौरवेणातिरिच्यते।। *वसि. ध.* १३/४८

498. त्रयः पुरुषस्यातिगुरवो भवन्ति। पिता, माता आचार्यश्च। *वि. ध.* ३१/१-२

499. तेषां नित्यमेव शूश्रूषुणा भवितव्यम्। वही, ३१/३

जैसी आज्ञा दे वैसा करना चाहिए।[500] उसे प्रिय और हितकरी कार्यों को ही करना चाहिए।[501] उसे उनकी आज्ञा के बिना कुछ भी नहीं करना चाहिए।[502] ये तीनों वेदों, तीनों देवों, तीनों लोकों और तीनों अग्नियों के समान हैं।[503] उनके अनुसार पिता गृहपत्याग्नि, माता दक्षिणाग्नि, गुरु आहवागनीय है।[504] जो व्यक्ति इन तीनों का आदर करता है वह अपने सभी धार्मिक कर्त्तव्यों को पूरा करता है।

लेकिन जो व्यक्ति इन तीनों का सम्मान नहीं करता, उसे किसी भी प्रकार की धार्मिक क्रियाओं का कोई फल प्राप्त नहीं होता है।[505] उनके अनुसार जो व्यक्ति अपनी माता का आदर करता है वह इहलोक को प्राप्त करता है। जो पिता का आदर करता है, वह देवलोक को प्राप्त करता है और जो अपने गुरु की सेवा तथा आज्ञा का पालन करता है वह ब्राह्मलोक को प्राप्त करता है।[506]

माता का भरण - पोषण करना पुत्र का अनिवार्य कर्तव्य माना गया है। बौधायन के अनुसार पतित होने पर भी माता का भरण - पोषण करना चाहिए। किन्तु उससे सम्भाषण नहीं करना चाहिए।[507] वसिष्ठ के अनुसार उसमें व्यभिचारिता जैसी अनेक त्रुटियों और दोषों के रहते हुए भी उसका पोषण करना उसके लिए अनिवार्य है। उसके अनुसार पतित पिता को छोड़ा जा सकता है किन्तु पतित माता

---

500. यत्ते ब्रूयुस्तत्कुर्यात्। वही, ३१/४

501. तेषां प्रियहितमाचरेत्। वही, ३१/५

502. न तैरननुज्ञातः किंचिदपि कुर्यात्। वही, ३१/६

503. एत एव त्रयो वेदा एत एव त्रयः सुरा। एत एव त्रयो लोका एत एव त्रयोऽग्नयः॥ वही, ३१/७

504. पिता गार्हपत्योऽग्निर्दक्षिणाग्निर्माता गुरुराहवनीयः। वही, ३१/८

505. सर्वे तस्यादृता धर्मा यस्यैते त्रय आदृताः। अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः॥ वही, ३१/९

506. इमं लोकं मातृभक्त्या पितृभक्त्या तु मध्यमम्। गुरुशुश्रूषया त्वेवं ब्रह्मलोकं समश्नुते॥ वही, ३१/१०

507. पतितामपि तु मातरं बिभृयादनभिभाषमाणः। *बौधा. ध.* २/२/३/४३

नहीं छोड़ी जा सकती।[508] मनुस्मृतिकार ने माता के कर्तव्यों को बताते हुए कहते हैं कि सन्तान उत्पत्ति, उत्पन्न हुई सन्तान की रक्षा और प्रतिदिन के लोक व्यवहार का कारण स्त्रियाँ हैं। इनको धर्मकृत्य, श्रेष्ठ रति आदि अपने कर्म के अधीन ही रखने चाहिए।[509]

३.६.३ पति के आचार :-

धर्मसूत्रीय काल में पत्नी का रक्षण तथा भरण - पोषण पति का महत्त्वपूर्ण आचार था। साथ उससे यह भी अपेक्षा की जाती थी की वह उससे प्रति प्रेमपूर्ण तथा उत्तम व्यवहार रखे। पत्नी का भरण-पोषण करने के कारण उसे ' भर्ता ' कहा गया है।

पत्नी का आदर सम्मान करने का तात्पर्य यह नहीं था कि वह पत्नी के अधीन हो जाए। पत्नी के वश में रहने वाले को स्त्रीजीत कहा गया है। वसिष्ठ के अनुसार स्त्रीजीत के घर में देवता निवास नहीं करते हैं।[510]

वैदिक काल में पति - पत्नी को दम्पत्ति ' घर में समान स्वामित्व रखने वाला ' कहा गया है। उस समय पति और पत्नी दोनों मिलकर यज्ञादि धार्मिक क्रियाओं एवं अन्य सांसारिक कार्यों को पूरा करते थे। ऋतुकाल में अपनी पत्नी के साथ सम्भोग करना भी पति का दायित्व कहा गया है।[511] किन्तु सम्भोग दिन में तथा निषिद्ध दिनों में करना वर्जित माना जाता था।[512] आपस्तम्ब के मतानुसार सम्भोग के समय 'स्त्रीवासा' ही पहनना चाहिए। यह इस अवसर पर पहनने का एक विशिष्ट वस्त्र होता

---

508. पतितः पिता परित्याज्यो माता तु पुत्रे न पतति। *वसि. ध.* १३/४७

509. *मनु.*, ९/२७-२८

510. नाश्नन्ति श्ववतो नाश्नन्ति वृषलीपतेः। भार्याजितस्य नाश्नन्ति यस्य चोपपतिर्गृह इति॥ *वसि. ध.* १४/११

511. ऋतावुपेयात्। *गौ. ध.*१/५/१

512. सर्वत्र वा प्रतिषिद्धवर्जम्। गौ. ध. १/५/२, अहन्यसंवेशनम्। ऋतौ च सन्निपातो दारेणाऽनुव्रतम्। *आप. ध.* २/१/१/१७-१८

था; जिसका प्रयोग किसी भी स्थिति में धार्मिक कृत्यों के सम्पादन के समय नहीं किया जाता था।[513] साथ ही केवल मैथुन के समय ही पति - पत्नी को शय्या पर एक साथ लेटना चाहिए उसके बाद अलग हो जाना चाहिए।[514] तत्पश्चात् उनको स्नान करना चाहिए[515] अथवा जहाँ - जहाँ वीर्य या रज लग गया हो, उसे मिट्टी या जल से स्वच्छ करके उन्हें आचमन करना चाहिए और अपने शरीरों पर जल छिड़कना चाहिए।[516]

बौधायन के अनुसार जो व्यक्ति अपनी ऋतुमयी पत्नी के समीप रहते हुए मैथुन रत नहीं होता, उसके पूर्वज उस मास में उसकी पत्नी के रजस्त्राव में ही पड़े रहते हैं[517] और यदि वह ऋतुमती पत्नी से तीन वर्ष तक मैथुन नहीं करता, वह भ्रूणहत्या के पाप का भागी होता है इसमें सन्देह नहीं है।[518]

वस्तुतः पारिवारिक जीवन को सौहार्दपूर्ण बनाने में पति और पत्नी दोनों का एक दूसरे के साथ सहवास होना आवश्यक होता है। मनु के अनुसार पति पत्नी ताड़ना का अधिकारी भी है। वह ताड़ना रस्सी अथवा बाँस की छड़ी से की जाती है। शरीर के पिछले भाग अर्थात् पीठ पर आघात किया जा सकता है, किन्तु सिर पर आघात नहीं करना चाहिए। जो व्यक्ति इन नियमों की अवहेलना कर ताड़ना करता है। उसको चोर को दिया जाने वाला दण्ड देना चाहिए।[519] पत्नी के वन्ध्या होने पर

---

513. स्त्रीवाससैव सन्निपातस्स्यात्। *आप. ध.* २/१/१/२०

514. यावत्सन्निपातं चैव सह शय्या। ततो नाना। *आप. ध.* २/१/१/२१-२२

515. उदकोपस्पर्शनम्। वही, २/१/१/२३

516. अपि वा लेपान्प्रक्षाल्याऽऽचम्य प्रोक्षणमङ्गानाम्। वही, २/१/२/१

517. ऋतुस्नातां तु यो भार्यां सन्निधौ नोपगच्छति। पितरस्तस्य तन्मासं तस्मिन् रजसि शेरते॥ *बौधा. ध.* ४/१/४/२०

518. त्रीणि वर्षाण्यृतुमतीं यो भार्या नाऽधिगच्छति। स तुल्यं भ्रूणहत्यायै दोषमृच्छत्यसंशयम्॥ *बौधा. ध.* ४/१/१/१९

519. भार्या पुत्रश्च दासश्च प्रेष्यो भ्राता च सोदरः। प्राप्तापराधस्ताड्याः स्यु रज्जवा वेणुदलेन वा।।

द्वितीय विवाह का विधान मिलता है अर्थात् पत्नी के वन्ध्या होने पर पति को आठवें वर्ष में विवाह कर लेना चाहिए, सन्तान के मरणोपरान्त ग्यारहवे वर्ष में, अप्रियवादिनी होने पर तुरन्त विवाह कर लेना चाहिए।[520]

३.६.४ पत्नी के आचार :-

धर्मसूत्रों में पत्नी के धार्मिक कर्त्तव्यों के साथ - साथ गृह सम्बन्धी तथा अन्य कार्यों का भी विस्तार से वर्णन मिलता है। विष्णु के अनुसार पत्नी को अपने पति के साथ सद्भावपूर्वक रहना चाहिए, उसे पति के साथ ही परिवार के अन्य सदस्यों जैसे सास, ससुर, गुरु और अतिथियों के प्रति भी श्रद्धाभाव रखना चाहिए।

गृहोपयोगी सभी वस्तुओं को अच्छे ढंग से रखना चाहिए, उसे अल्पव्ययी होना चाहिए, घरेलू बर्तनों को सावधानी पूर्वक रखना चाहिए, घर में रहने वाले सेवकों तथा पशुओं का ध्यान रखना चाहिए, उसे जादू - टोने से दूर रहना चाहिए, मांगलिक कार्यों के लिए तैयार रहना चाहिए, उसे कोई भी कार्य स्वेच्छापूर्वक नहीं करना चाहिए, उसे बाल्यावस्था में पिता से पूछकर, युवावस्था में पति से पूछकर, वृद्धावस्था में पुत्र से पूछकर कार्यों को करना चाहिए। अपने पति की मृत्यु के पश्चात् उसे या तो ब्राह्मचर्य का पालन करना चाहिए या उसकी चिता पर चढ़ जाना चाहिए।[521] बौधायन के अनुसार जो स्त्रियां पति के सुख के लिए प्रयत्न करती हैं वे मृत्यु के बाद स्वर्ग को प्राप्त करती हैं।[522] वसिष्ठ मतानुसार पत्नी को पति के बाद

पष्ठतस्तु शरीरस्य नोत्तमाङ्के कथञ्चन्। अतोऽन्यथा तु प्रहरन्प्राप्तः स्याच्चौरकिल्विषम्॥ *मनु.,* ८/२९९-३००

520. *मनु.*, ९/८१

521. *वि. ध.* २५/१-१४

522. भर्तृहिते यतमानास्स्वर्गं लोकं जयेरन्। *बौधा. ध.* २/२/३/४८

भोजन करना चाहिए क्योंकि एक साथ बैठ कर भोजन करने से दुर्बल संतान पैदा होती है।[523]

पति के विदेश जाने पर पत्नी किस प्रकार रहे इस विषय में विष्णु धर्मसूत्रकार ने कहा है कि पति के विदेश चले जाने पर यदि वह पत्नी की जीविका, भरण - पोषण का प्रबन्ध करके विदेश गया हो तो पत्नी को घर में साज - शृंगार नहीं करना चाहिए, न ही पति की अनुपस्थिति में उसे किसी अपरिचित व्यक्ति के घर में आश्रय लेना चाहिए, और नहीं उसे अपने घर की खिड़की और दरवाजे के पास ही खड़े होना चाहिए किन्तु यदि पति बिना भोजन और वस्त्र आदि की व्यवस्था किये चला गया हो तो पत्नी को सिलाई बुनाई जैसे शिल्प द्वारा अपना परिपालन करना चाहिए।[524] गौतम के अनुसार पत्नी को पति के अतिरिक्त अन्य किसी पुरुष का मन से भी ध्यान नहीं करना चाहिए।[525]

विष्णु के अनुसार तो पत्नी को अपने पति के अतिरिक्त यज्ञ, व्रत एवं उपवास करने का भी अधिकार नहीं है। उसका एक मात्र कार्य अपने पति की सेवा करना है और ऐसा करके वह स्वर्ग को प्राप्त करती है।[526] किन्तु जो पत्नी पति की जीवितावस्था में व्रत और तप करती है वह न केवल पति की आयु कम करती है अपितु मृत्योपरान्त नरक को प्राप्त करती है।[527]

---

523. भार्यया सह नाश्नीयादवीर्यवदपत्यं भवतीति वाजसनेयके विज्ञायते। *वसि. ध.* १२/३१

524. भर्तरि प्रवसितेऽप्रतिकर्मक्रिया। परगृहेष्वनभिगमनम्। द्वारदेशगवाक्षेष्वनवस्थानम्। वि. ध. २५/९-११

525. नातिचरेत्भर्तारम्। *गौ. ध.* २/९/२

526. नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषितम्। पतिं शुश्रूयते यत्तु तेन स्वर्गे महीयते॥ *वि. ध.* २५/१५

527. पत्यौ जीवति या योषिदुपवासव्रतं चरेत्।.आयुः सा हरते भर्तुर्नरकं चैव गच्छति॥ *वि. ध.*२५/१६

आपस्तम्ब के मतानुसार विवाह के बाद पति एवं पत्नी धार्मिक कृत्य में एक साथ रहना चाहिए, जिससे वे पुण्यफल में समान भागीदार होते हैं, धन उपार्जन में भी वे एक साथ होने चाहिए, पति की अनुपस्थिति में पत्नी अवसर पड़ने पर दान आदि कर्म कर सकती है।[528] इस प्रकार पत्नी घर के निर्माण, संचालन विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहण करती थी। सामाजिक और धार्मिक कृत्यों में सहयोग के साथ - साथ वह बड़े - बूढ़ों के प्रति सम्मान और आदर का भाव का आचार रखती थी। पत्नी को कभी भी अप्रियवादिनी नहीं होना चाहिए। पति से प्रिय संवाद ही करना चाहिए।[529]

३.६.५ पुत्र के आचार :-

विवाह के प्रमुख उद्देश्यों में से एक पुत्र प्राप्ति है। पुत्र प्राप्ति के निमित्त ही गर्भाधान तथा पुंसवन संस्कार किये जाते थे। पुत्र के जन्म से उसका लालन - पालन माता - पिता (गृहस्थ) का कर्तव्य है। वही पुत्र के युवा होने पर माता - पिता की सेवा करना, उनकी आज्ञा का पालन करना तथा उनका भरण - पोषण का पुत्र का प्रमुख कर्तव्य है।

आपस्तम्ब के अनुसार पुत्र को माता - पिता की सेवा आचार्य की भाँति करनी चाहिए।[530] गौतम के अनुसार प्रतिदिन माता - पिता के मिलने पर उनके चरण छूने चाहिए।[531] उनके अनुसार किसी भी स्थिति में अर्थात् पतित होने पर भी माता - पिता के साथ अनुचित व्यवहार नहीं करना चाहिए।[532]

---

528 पाणिग्रहणाद्धि सहत्वं कर्मसु। तथा पुण्यफलेषु। द्रव्यपरिग्रहेषु च।
न हि भर्तुर्विप्रवासे नैमित्तिके दाने स्तेयमुपदिशन्ति। *आप. ध.* २/६/१४/१७-२०

529. *मनु.* ९/८१

530. मातरि पितर्याचार्यवच्छुश्रुषा। *आप. ध.* १/४/१४/५

531. पादोपसंग्रहणं समवायेऽन्वहम्। *गौ. ध.* १/६/१

532. न कर्हिचिन्मातापित्रोरवृत्तिः। वही, ३/३/१५

विष्णु के अनुसार पुत्र को सदा माता, पिता एवं गुरु की सेवा करनी चाहिए।[533] पुत्र को वे जैसा आदेश कहें वैसा आचरण करना चाहिए। सदैव इनके लिए प्रिय और हितकारी कार्य करने चाहिए और इनकी आज्ञा के बिना कोई कार्य नहीं करना चाहिए।[534]

परन्तु आज समाज में वृद्धाश्रम की नींव इस बात का प्रमाण है कि पुत्रों का अपने कर्तव्यों से विमुखिकरण प्रारम्भ हो गया है।

३.७ प्रकृति के प्रति लोकाचार :-

प्राचीन काल से ही भारतीय संस्कृति प्रकृति के प्रति जागरूक रही है। प्रकृति को देव तुल्य मान कर उसकी पूजा की गयी है। प्रकृति के प्रति जागरूकता दिखाते हुए कहा गया कि वायु, अग्नि, ब्राह्मण, सूर्य, जल, देवता, गौ की तरफ मुख करके अथवा उन्हें देखते हुए मूत्र और मल का त्याग नहीं करना चाहिए और न ही थूक, खकार, उच्छिष्ट फेंकना चाहिए।[535] अर्थात् उसे प्रदूषित नहीं होने देना चाहिए।

आपस्तम्ब ने प्रकृति रक्षण के प्रति सूक्ष्म चिन्तन किया है जैसा की उन्होंने कहा भी है कि मात्र सूँघने के लिए किए किसी वृक्ष या वनस्पति की पत्ती या फूल नहीं तोड़ने चाहिए।[536] गौतम के अनुसार भी अपने आप न गिराये गये औषधियों और वृक्ष एवं लताओं के पत्ते, फूल, फल, मूल या शाखा आदि को ग्रहण नहीं करना चाहिए।[537] साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि जोते हुए खेत में, मार्ग तथा जल में मूत्र और मल का त्याग नहीं करना चाहिए। जल में थूकना या मैथुन कर्म वर्जनीय है और अग्नि, जल,

---

533. तेषां नित्यमेव शूश्रूषुणा भवितव्यम्। *वि. ध.* ३१/३

534. यत्ते ब्रूयुस्तत्कुर्यात्। तेषां प्रियहितमाचरेत्। न तैरननुज्ञातः किंचिदपि कुर्यात्। वही, ३१/४-६

535. न वाय्वग्निविप्रादित्यापो देवता गाश्च प्रति पश्यन्वा मूत्रपुरीषामेध्यान्व्युदस्येत्। *गौ. ध.* १/९/१३

536. ओषधिवनस्पतीनामाच्छिद्य नोपजिघ्रेत्। *आप. ध.* १/२/७/४

537. नाविग्रयुक्तमोषधिवनस्पतीनामङ्गमुपाददीत। *गौ. ध.* १/३/१९

ब्राह्मण, गौ, देव प्रतिमा की तरफ मुख करके मूत्र या मल का त्याग नहीं करना चाहिए।[538] उन्होंने शरीर में लगे मूत्र और मल को पत्थर के टुकड़े से, मिट्टी के ढेले से, फल देने वाले वृक्षों तथा वनस्पतियों के तोड़े गये हरे पत्तों से नहीं पोंछना निषिद्ध कर्म कहा है।[539]

आपस्तम्ब ने सभी पर्वतों, सभी बहने वाली नदियों, पवित्र जलाशयों, तीर्थ स्थानों, ऋषियों के आश्रमों, गौशालों, क्षेत्र तथा देवालयों को पाप दूर करने वाले पवित्र स्थान कहे हैं।[540]

गौतम के अनुसार बीजों को कूटना नहीं चाहिए, केवल पकाये हुए अन्न की भिक्षा ग्रहण करना चाहिए।[541] पीड़ा पहुँचाने वाले और अनुग्रह करने वाले प्राणियों के प्रति एक समान व्यवहार रखना चाहिए।[542] हल से जोते गये खेत में नहीं जाना चाहिए।[543]

बौधायन के अनुसार जल को दूषित नहीं करना चाहिए। जल में रहकर शरीर की सफाई (शौचादि कर्म), वस्त्रों को हाथ से रगड़ कर धोना तथा आचमन का कार्य नहीं करना चाहिए।[544]

---

538 कृष्टे। पथि। अप्सु च। तथा ष्ठेवनमैथुनयोः कर्माऽप्सु वर्जयेत्। अग्निमादित्यमपो ब्राह्मणं गा देवताश्चाऽभिमुखो मूत्रपुरीषयोः कर्म वर्जयेत्। *आप. ध.* १/११/३०/१९-२३

539. अश्मानं लोष्टमार्द्रानोषधिवनस्पतीनूर्ध्वानाच्छिद्य मूत्रपुरीषयोः शुन्धने वर्जयेत्। *आप. ध.* १/११/३०/२४

540. सर्वे शिलोच्चयाः सर्वाः स्रवन्त्यः सरितः पुण्याह्रदास्तीर्थाण्यृषिनिकेतनानि गोष्ठक्षेत्रपरिष्कन्दा इति देशाः।

बौधा. ध. ३/१०/१०/१३

541. वर्जयेत् बीजवधम्। *गौ. ध.,* १/३/२२

542. समो भूतेषु हिंसानुग्रहयोः। वही, १/३/२३

543. न फालकृष्टमधितष्ठेत्। वही, १/३/३१

544. नाऽप्सु सतः प्रयमणं विद्यते न वासः पल्पूलनं नोपस्पर्शनम्। *बौधा. ध.* २/५/८/८

गृहस्थ पञ्चमहायज्ञों का सम्पादन करते थे। ऋषि दयानन्द सरस्वती ने यज्ञ को वायु शुद्धि का सर्वोत्तम साधन माना है। इसीलिए यजुर्वेद भाष्य में ऋषि लिखते हैं कि "जैसी यज्ञ के अनुष्ठान से वायु और वृष्टि जल की उत्तम शुद्धि और पुष्टि होती है, वैसी दूसरे उपाय से कभी नहीं हो सकती।"[545] आधुनिक परिप्रेक्ष्य में खुले में शौच को निषिद्ध माना गया है। वर्तमान में सरकार द्वारा 'स्वच्छ भारत अभियान' आदि कार्यक्रम पर्यावरण और समाज के लिए उठाया गया उत्तम कदम है।

३.८ अन्याश्रमों के प्रति लोकाचार :-

गृहस्थ आश्रम में व्यक्ति गृहस्थ के नियमों का पालन तो करता ही था, साथ ही वह लोक में अन्याश्रमों के प्रति उत्तरदायित्वों का निर्वहन करते हुए सामाजिक लोकाचार की पालना करता था। अप्रत्यक्ष अथवा प्रत्यक्ष रूप से वह सभी आश्रम से जुड़ाव रखता था। गृहस्थ जन विवाह उपरान्त जब सन्तानोत्पत्ति करते थे तो उसके ब्राह्मचर्य आश्रम में विद्याध्ययन तक सम्पूर्ण सहायता करते थे। इसी प्रकार गृहस्थी अन्याश्रमों के लोगों (ब्राह्मचारी, वानप्रस्थी, संन्यासी) द्वारा भिक्षा याचना पर भिक्षा देकर, उनका अतिथि सत्कार कर अपने उत्तरदायित्वों की पालना करते थे। गृहस्थाश्रम के समस्त उत्तरदायित्वों एवं कर्तव्यों को पूर्ण कर लेने के पश्चात् ही वह वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करने का अधिकारी माना जाता था। वानप्रस्थ आश्रम में मनुष्य अपने परिवार और गाँव को छोड़कर सपत्नी अथवा अकेला वन की ओर प्रस्थान करता था।[546] पञ्च महायज्ञों की पालना कर भूतबलि के माध्यम से गृहस्थी सभी प्राणीयों के हित की कामना भी करता है।

विष्णु के अनुसार गृहस्थी जब यह देखे कि उसके शरीर पर झुर्रियाँ पड़ने लगी हैं, सिर के बाल सफेद हो गये हैं और पुत्र के भी पुत्र हो गये हैं तब उसे परिवार की

---

545. ऋषि दयानन्द सरस्वती, *यजुर्वेद भाष्य*, वेद विषय विचार, पृ. ४१

546. गृहान् कृत्वा सदारस्सप्रजस्सहाग्निभिर्बहिर्ग्रामाद्व्रसेत् एको वा। *आप. ध.* २/९/२२/८-९

मोहमाया को छोड़कर वन की ओर प्रस्थान करना चाहिए।[547] आपस्तम्ब के अनुसार कुछ आचार्यों का मत है कि गृहस्थ वानप्रस्थी बनने से पूर्व भोजन पकाने तथा खाने के पात्रों के तथा काटने के औजार, फरसा तथा हसिया आदि के जोड़े बनवाये। उनमे से एक स्वयं ले तथा दूसरा पत्नी को देकर वन को प्रस्थान करे।[548] इस प्रकार स्पष्ट होता है कि गृहस्थी गृहस्थ आश्रम में रहते हुए भी अन्याश्रमों के प्रति भी अपने लोकाचरित नियमों के निर्वहन में लगा रहता है। सत्य तो यह भी है कि गृहस्थाश्रम के न होने पर अन्य आश्रमों की कल्पना भी नहीं की जा सकती। यह सभी आश्रमों का आधार है।

३.९ दान सम्बन्धी आचार :-

लोकाचार की दृष्टि से दान देना भी गृहस्थाश्रमी के लिए एक महत्त्वपूर्ण कृत्य माना गया है। दान शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है - दा धातु से ल्युट् प्रत्यय अर्थात् देना, सौंपना।[549] दान तीन प्रकार का कहा गया है।

१. **नैत्यिक -** प्रतिदिन किये जाने वाले दान को नैत्यिक दान कहते हैं।

२. **नैमित्तिक -** किसी विशेष अवसर पर दिया जाने वाला दान नैमित्तिक दान कहलाता है।

३. **काम्य -** काम्य दान वह होता है जब किसी कामना की पूर्ति हेतु दान किया जाता है।

दान देने और लेने वाले के विषय में मनु का कहना है कि जो दान को आदर पूर्वक स्वीकार करता है और दाता भी दान को आदरपूर्वक देता है वे दोनों ही स्वर्ग

---

547. गृही बलीपलितदर्शने वनाश्रयो भवेत्। अपत्यस्य चापत्यदर्शने वा। *वि. ध.* ९४/१-२

548. तस्य द्वन्दद्रव्याणामेक उपदिशन्ति पाकार्थं भोजनार्थं वासिपरशुदात्रकाजानाम्।
द्वन्दानामेकैकमादायेतराणि दत्वाऽरण्यमवतिष्ठेत। *आप. ध.* २/९/२२/१५-१६

549. *संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ*, पृ. ५२७

को प्राप्त करते हैं लेकिन इसके विपरीत आचरण करने वाले नरक के भोगी होते हैं।[550] अतः दान को आदरपूर्वक देना चाहिए तथा दान को आदरपूर्वक स्वीकार करना चाहिए।

दान विषयक उस समय का यह उत्तम आचार है। वर्तमान में दान लेने वाला कह कर माँगता है तथा अभीष्ठ न मिलने पर अनादर का भाव रखता है।

गौतम के अनुसार वेद के अध्ययन के उपरान्त गुरु के लिए, विवाह के लिए, रोगी की औषधि के लिए, हीन वृत्ति वालों के लिए, अध्ययन करने वालों के लिए, मार्ग पर चलने वालों के लिए और विश्वजित यज्ञ करने वालों के लिए, इनके माँगने पर अवश्य ही बहीर्वेदि (यज्ञ की दक्षिणा के समय दिये जाने वाले दान से भिन्न प्रकार का) दान देना चाहिए।[551] उपर्युक्त व्यक्तियों के अतिरिक्त भी माँगने वाले व्यक्तियों को पकाया हुआ अन्न देना चाहिए।[552] किन्तु यदि किसी को वचन भी दिया हो तब भी अधार्मिक कार्य के लिए कभी भी दान नहीं देना चाहिए।[553] अतः स्पष्ट है कि कभी भी अधार्मिक कार्यों के लिए दान नहीं करना चाहिए।

बौधायन के मत में आचारवान ब्राह्मण वेदों के ज्ञान तथा अनुष्ठान से युक्त श्रोत्र, वेद विद्या में निपुण पुरुष यदि यज्ञवेदि से भिन्न स्थान पर गुरु को दक्षिणार्थ हेतु, विवाह के लिए, औषध हेतु, जीवन वृत्ति विहीन होने पर पोषण हेतु, यज्ञ करने

---

550. योऽर्चितं प्रतिग्रह्णाति ददात्यर्चितमेव च। तावुभौ गच्छतः स्वर्गं नरकं तु विपर्यये॥ *मनु.,* ४/२३५

551. गुर्वर्थनिवेशौषधार्थवृत्तिक्षीणयक्ष्यमाणाध्ययनाध्वसंयोगवैश्वजितेषु द्रव्यसंविभागो बहिर्वेदि। *गौ. ध.* १/.५/१९

552. भिक्षमाणेषु कृतान्नमितरेषु। वही, १/५/२०

553. प्रतिश्रुत्याप्यधर्मसंयुक्ताय न दद्यात्। वही, १/५/२१

हेतु, अध्ययन हेतु, यात्रा के लिए अथवा विश्वजित यज्ञ करने पर धन की याचना करें तो उनको यथाशक्ति धन प्रदान करना चाहिए।[554]

गौतम ने दान के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि अब्राह्मण (ब्राह्मणेतर क्षत्रिय, वैश्य आदि) द्वारा ब्राह्मण, श्रोत्रिय और वेदविद्या में निपुण व्यक्ति को दान देने पर क्रमशः समान, दुगुना, सौगुना या अनन्त फल की प्राप्ति होती है।[555] अग्निहोत्र, अतिथिपूजा तथा अन्य श्राद्ध सन्ध्योपासनादि जो कुछ भी उचित व्यवहार हैं, वे गृहस्थाश्रम में करने होते हैं।[556] दान करना उस समय का लोकाचार था और समाज भी बिना किसी संकोच के दान करता था। आधुनिक समाज में भी यह दान की परम्परा देखने को मिलती है।

३.१० गृहस्थ आश्रम की वर्तमान प्रासंगिकता :-

वर्तमान सन्दर्भ में गृहस्थ आश्रम की अत्यधिक महत्त्वपूर्ण प्रासंगिकता है। ऋण त्रय से मुक्ति का मार्ग यही आश्रम में निहीत है। प्रकृति के प्रति चेतना, उसका संरक्षण साथ ही सभी प्राणियों के प्रति उदार भाव को गृहस्थ आश्रम में रहकर ही जीवन में उतारा जा सकता है। पञ्चमहायज्ञों की पालना गृहस्थ का मुख्य आचार है। वर्तमान सन्दर्भ में इसकी अत्याधिक आवश्यकता है। अतः वर्तमान प्रसंग में गृहस्थ के श्रेठ आचारों की आवश्यकता अत्यधिक है और हमेशा बनी रहेगी।

॥ इति तृतीय - अध्याय ॥

---

554. सुब्राह्मणश्रोत्रियवेदपारगेभ्यो
गुर्वर्थनिवेशौषधार्थवृत्तिक्षीणयक्ष्यमाणाध्ययनाध्वसंयोगवैश्वजितेषु
द्रव्यसंविभागो यथाशक्ति कार्यो बहिर्वेदिभिक्षमाणेषु। *बौधा. ध.* २/३/५/१९

555. समद्विगुणसाहस्रानन्त्यानि फलान्यब्राह्मणब्राह्मणश्रोत्रियवेदपारगेभ्यः। *गौ. ध.* १/५/१८

556. अग्निहोत्रमतिथयो यच्चान्यदेवं युक्तम्। *आप. ध.* १/४/१४/१

चतुर्थ अध्याय

वानप्रस्थ आश्रम में लोकाचार

चतुर्थ अध्याय

वानप्रस्थ आश्रम में लोकाचार

वानप्रस्थ आश्रम में लोकाचार के नियमों का वर्णन अनिवार्य माना गया है। वानप्रस्थी लोकाचार को जीवन धारण करते हुए अपने जीवन लक्ष्य को साधता है। वानप्रस्थ में लोकाचार का स्वरूप परिवर्तित हो जाता है। इसमें ब्रह्मचर्य और गृहस्थ आश्रम से अधिक साधना और तप की आवश्यकता होती है। इसमें लोकाचार के नियम अधिक सुखकारी सिद्ध हो जाते हैं, इन नियमों का पालन करते हुए वानप्रस्थी तपस्वी जीवन को सुखमय बना लेता है। इसके सारगर्भित स्वरूप का विवेचन यहाँ किया गया है।

४.१ वानप्रस्थ आश्रम में लोकाचार :-

वानप्रस्थ आश्रम में लोकाचार का महत्त्व सर्वत्र परिलक्षित होता है। धर्मसूत्रीय लोकाचार समाज को नूतन प्रेरणा प्रदान करता है। वानप्रस्थ आश्रम में वानप्रस्थी जनों के द्वारा लोकाचारीय नियमों का पालन किया जाता था। इसमें मनुष्य सांसारिक कार्यों से मुक्त होकर जीवन यापन करता था। जब मनुष्य का हृदय समाज से विरक्त हो जाता था तब वह वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करता था।[557] वह वन में जाकर परमतत्त्व की प्राप्ति के लिए भक्ति, साधना एवं तप में अपना जीवन व्यतीत करता था।[558] वानप्रस्थ का सामान्य अर्थ होता है - वन की ओर प्रस्थान करना। मनुस्मृतिकार ने वानप्रस्थ के विषय में कहा है कि -

---

557. *गीता*, शान्तिपर्व, ९/४

558. *ध. शा. इति.* भाग - ५, पृ. ४०६

" गृहस्थास्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मानः।

अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत्॥[559] "

अर्थात् मनुष्य जब अपने तन पर झुर्रियाँ पड़ने लगें, बाल भी पकने लगें, और जब उसके पुत्रों के भी पुत्र हो जाये तब उसे वन की ओर् गमन करना चाहिए।

वन में रहकर जीवन के परम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति हेतु तप एवं साधना के द्वारा जीवन यापन करना वानप्रस्थी का प्रमुख कार्य था। वह वन में रहकर जीवन को नियमों में बाँधकर कठोरता के साथ पालन करता था। यह जीवन भाग मनुष्य के लिए तपस्या वाला कहा गया है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में चारों आश्रमों के सन्दर्भ में कह गया है - **" चत्वारः आश्रमा गार्हस्थमाचार्यकुलं मौनं वानप्रस्थमिति। "**[560] वानप्रस्थ आश्रम में वानप्रस्थी लोकाचार के नियमों के अनुसार स्वयं को लोकाचार प्रेमी बनाते हुए तप साधना का कार्य करता था। जैसे :-

- प्रतिदिन परम तत्त्व की साधना करना।
- प्राणियों के हितार्थ जीवन यापन करना।
- सत्यनिष्ठा का पालन करना।
- तप साधना द्वारा ब्रह्मनिष्ठ बनना ।

इस प्रकार से वानप्रस्थ आश्रम में विविध लोकाचारीय नियमों का वर्णन किया गया है। जो प्रत्येक मानव के लिए अनिवार्य है। इनको जीवन में धारण करना मनुष्य का कर्तव्य है। जिनका विवेचन अध्याय में सूक्ष्मता के साथ किया गया है। इनका स्वरूप अधोलिखित बिन्दुओं द्वारा अधिगम किया जा सकता है।

---

559. *मनु,* ६/२

560. *आप. ध.,* २/८/२१/१

४.२ वानप्रस्थ आश्रम का समय :-

धर्मसूत्रों के मतानुसार वानप्रस्थ आश्रम का समय पचास वर्ष के पश्चात् बताया गया है। यहाँ पर कहा गया है कि - जब गृहस्थ के शरीर स्थिर हो जाए, वह सभी कार्यों से मुक्त हो गया हो, जिसके बाल भी सफेद हो गए हों, वह पुत्र एवं परिवार से सम्पन्न हो गया हो। पुत्र का वैवाहिक कर्म पूर्ण हो गया हो। वह व्यक्ति वानप्रस्थ आश्रम में यथा धर्मानुसार आगमन कर सकता है।

गृहस्थ आश्रम के सभी कार्यों से मुक्त होना वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करना है। यहाँ आकर वह तप और साधना के द्वारा परमतत्त्व की भक्ति में लीन हो जाता है। अन्य ग्रन्थों में भी वानप्रस्थ प्रवेश की आयु पचास ही मानी गई है।[561] वानप्रस्थ आश्रम में आने पर मनुष्य सामाजिक बन्धनों से मुक्त हो जाता है। इस समय उसे आजीविका के निमित्त कार्य नहीं करने होते। वह अपना सम्पूर्ण समय ध्यान साधना में व्यतीत करता है। वानप्रस्थ आश्रम की गणना षोडश संस्कारों में भी हुई है। वनस्थ की दीक्षा लेने का संस्कार ही वानप्रस्थ संस्कार है। इसमें सन्तानों के स्वावलम्बी होने पर या ५० वर्ष की आयु के पश्चात् घर का त्याग कर वन में रहते हुए तपस्या एवं ईश्वर भक्ति करनी होती है। गृहस्थ आश्रम के समस्त कर्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों को पूरा करने के पश्चात् ही व्यक्ति वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश का अधिकारी समझा जाता है। विष्णुधर्मसूत्र के अनुसार जब गृहस्थी के शरीर पर झुर्रीयाँ पड़ने लगे। सिर के बाल सफेद हो और पुत्र के पुत्र होने लगें, तब उसे परिवार का मोह छोड़ कर वन की ओर प्रस्थान करना चाहिये।[562] बौधायन ने इसकी महत्ता के विषय में लिखा है कि पशुओं के साथ विचरण करना, उन्हीं के साथ निवास करना और उन्हीं के समान वृत्ति का

---

561. *धर्म. आ. सं.,* पृ. ५३

562. गृही बलीपलितदर्शने वनाश्रयो भवेत्। अपत्यस्य चापत्यदर्शने वा। *वि. ध.* ९४/१-२

आश्रय लेना स्वर्ग का प्रत्यक्ष लक्षण होता है।[563] यहाँ पशु वृत्ति से अभिप्रायः सांसारिक बन्धनों से मुक्त होना है, अर्थात् सुख साधनों का त्याग कर सामान्य जीवन शैली अपना।

४.३ वानप्रस्थ आश्रम के अधिकारी :-

वानप्रस्थ में सभी वर्णों द्वारा वानप्रस्थ आश्रम में जाने का वर्णन किया गया है। सभी अपने दायित्वों से मुक्त होकर वानप्रस्थ में प्रवेश कर सकते हैं। महाभारत में वर्णन मिलता है कि - क्षत्रिय अपने पुत्र को राजकार्य सौंपकर वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करें।[564] इस प्रकार से वानप्रस्थ में प्रवेश करने का वर्णन भारतीय संस्कृति में उपलब्ध है।

मनुस्मृतिकार के अनुसार वानप्रस्थी को चाहिए कि ब्रह्मचर्य आश्रम तथागृहस्थ आश्रमके सभी कार्य विधि विधान पूर्वक करने के उपरान्त ही पवित्र तथा जितेन्द्रिय होने के पश्चात् ही वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करें।[565] साथ ही यह भी कहा गया है कि जब मनुष्य अपने पुत्र के भी पुत्र (पौत्र) को देख ले तब वन में प्रस्थान करे। वह अपनी स्त्री को साथ लेकर अथवा उसे पुत्रों के पास छोड़कर केवल अग्निहोत्र की सामाग्री लेकर वन गमन करे।[566]

---

563. मृगैस्सह परिस्पन्दः संवासस्तेभिरेव च। तैरेव सदृशी वृत्तिः प्रत्यक्षं स्वर्गलक्षणम्। प्रत्यक्षं स्वर्गलक्षणमिति। *बौधा. ध.* ३/३/३/२३

564. *गीता*, शान्तिपर्व, २१/१५

565. *मनु.* ६/१-२

566. *मनु.* ६/३-४

४.४ वानप्रस्थ आश्रम के प्रमुख आचार :-

वानप्रस्थ आश्रम में रहने वाले जनों के लिए वानप्रस्थ नियमों का पालन करना अनिवार्य था। इसके लिए उनको कठोर नियमों का पालन करना आवश्यक था। वानप्रस्थी के कर्तव्यों का वर्णन इस प्रकार है ।[567]

१. सामाजिक उपभोगों का त्याग कर देना चाहिए।

२. धार्मिक नियमों का पालन करना चाहिए।

३. ब्रह्मचर्य को धारण करके विषय वासनाओं से दुर रहना चाहिए।

४. तप और साधना में जीवन व्यतीत करना चाहिए।

५. प्रतिदिन परम तत्त्व की साधना करनी चाहिए।

६. वन को ही अपना घर एवं साधना केन्द्र मानकर जीवन यापन करना चाहिए।

७. वन में उपलब्ध वस्तुओं के अनुसार जीवन जीना चाहिए।

८. धार्मिक नित्य कर्मों का पालन करना चाहिए।

९. वेदों का मौन रहकर पाठ करना चाहिए।[568]

इस प्रकार से वानप्रस्थ में विभिन्न नियमों के पालन करने के बारे में बताया गया है।

---

567. *धर्म. आ. सं.*,पृ. ५३-५५

568. स्वाध्याये नित्ययुक्तः, *मनु.*, ६/८

४.४.१ सामाजिक लोकाचार का पालन :-

वानप्रस्थ में सामाजिक लोकाचार का पालन करना चाहिए। समाज में जीवन यापन करने के बाद जब मनुष्य वन में जाकर जीवन व्यतीत करता है तो उसके सामने विविध प्रकार के नियमों का पदार्पण होता है।

अतः वह सामाजिक नियमों के आधार पर लोकाचार का पालन करते हुए अपना जीवन यापन करे।[569] उनका वर्णन यहाँ प्रस्तुत किया गया है। जैसे :-

१. प्रेम और सौहार्द के साथ रहना चाहिए।

२. क्रोध नहीं करना चाहिए।

३. प्रेमपूर्वक जीवन के रहस्यों को सुलझाने हेतु मन्थन करना चाहिए।

४. वन को ही परिवार और समाज मानकर प्राणियों के प्रति सदैव मधुर व्यवहार होना चाहिए।

५. सामान्य वस्तुओं का उपभोग करते हुए मोक्षमार्ग पर प्रशस्त होना चाहिए।

इस प्रकार से वानप्रस्थ में भी सामाजिक लोकाचार के नियमों का पालन करना अनिवार्य बताया गया है।

४.४.२ शौचाचार का पालन :-

धर्मसूत्रों में स्पष्टतया उल्लेख मिलता है कि स्नातक और गृहस्थ के लिए शौचाचार के नियम आवश्यक थे। सभी इनका निष्ठाभाव से पालन करते थे। शौचाचार के नियमों का पालन करना स्नातक के कर्तव्यों में प्रमुख कार्य था। अतः

---

569. *धर्म. शा. इति.,* भाग - ५, पृ. ४०६-४०७

वानप्रस्थी इन नियमों का इनका पालन करते हुए वानप्रस्थ आश्रम में जीवन यापन करते थे।

४.४.३ स्नान करने का विधान :-

वानप्रस्थ आश्रम में बताया गया है - स्नान के समय वानप्रस्थी को लोकाचारी नियमों का पालन करना चाहिए। वह धीरे - धीरे नदी में प्रवेश करे और स्नान करते समय अधिक मलिनता न फैलाए। वह स्नान करते समय सूर्य की ओर मुख करे। धर्मसूत्रों में वानप्रस्थी के लिए तीन बार (प्रातः काल, मध्यान और सांयकाल) में स्नान करने का विधान स्पष्ट किया गया है। तथा मनुस्मृतिकार के दो बार स्नान का विधान किया है।[570]

४.४.४ केश - विधान :-

वानप्रस्थ आश्रम में केशविधान का नियम भिन्न माना गया है। यहाँ वानप्रस्थी अपनी दाढ़ी और मूछ नहीं काटता था। वह अपने नाखूनों को भी नहीं काटता था।[571] वह सदैव जटाओं का रूप धारण करता हुआ जीवन व्यतीत करता था।[572]

४.४.५ वस्त्र धारण के विधान :-

वानप्रस्थ आश्रम में रहने वाले साधकों के लिए वृक्ष ही सब कुछ थे। अतः सभी वानप्रस्थी वृक्षों की छाल, दर्भ (कुशा) एवं मूञ्ज आदि से बने वस्त्रों को धारण करते थे। वे वन से मिलने वाली छाल एवं पत्तों से वे अपने वस्त्रों का निर्माण करते थे। मनुस्मृति में चर्मचीर का भी विवेचन किया गया है।[573] सामाजिक उपयोग की

---

570. *धर्मद्रुम*, पृ. १९०

571. जटाश्च बिभृयान्नित्यं श्मश्रुलोमनखानि च। *मनु.*, ६/६

572. *धर्म. आ. सं.*, पृ. ५४

573. वासीत चर्मचीरं वा सायं स्नायात्प्रगे तथा।
जटाश्च बिभृयान्नित्यं श्मश्रुलोमनखानि च॥ *मनु.*, ६/६

वस्तुओं की अपेक्षा वानप्रस्थी सदैव साधना और तप में अपना जीवन व्यतीत करते थे।

४.४.६ भोजन का प्रयोग :-

वानप्रस्थ में भोज्य पदार्थों का सेवन नहीं बताया गया है अर्थात् वानप्रस्थ में आने के पश्चात् वानप्रस्थी कोगृहस्थ आश्रमके भोजन का त्याग कर देना चाहिए। वानप्रस्थी वनों में उपलब्ध फल एवं कन्दमूल फलों के द्वारा अपना जीवन निर्वाह करते थे।

कतिपय वानप्रस्थी कठिन नियमों का पालन करते थे। वे केवल आकाश की वायु और जल को ही ग्रहण करते थे। बौधायन धर्मसूत्र में ऋषियों का भोजन प्रतिदिन सोलह ग्रास ही बताया गया है।[574] मनु के अनुसार वानप्रस्थी को दिन में एक समय ही भोजन करना चाहिए अथवा दो दिनों में एक समय भोजन करना चाहिये।[575] भोजन को एक दिन या एक माह के लिए एकत्रित करे।

वानप्रस्थी पुराने अन्न को त्यागकर प्रतिदिन फलों एवं कन्दमूल फलों की खोज करके उनका सेवन करते थे। भोजन के विषय में वानप्रस्थी को कहा गया की उसे भुमि अथवा जल में उत्पन्न होने वाले शाक, फल, कन्द, पवित्र वृक्षों के फूल तथा फलों से निकला तेल आदि खाना चाहिए साथ ही मद्य, मांस, कुकुरमुत्ता (मशरुम), सहँजन, लहसोड़ा इत्यादि नहीं खाना चाहिए[576] अधिकतर वानप्रस्थी किसी भी

---

574. *बौध. ध.*, १/१/३/१८

575. *मनु,.* ६/२७ -२८

576. स्थलजौदकशाकानि पुष्पमूलफलानि च। मेघ्यवृक्षोद्भ्वान्यद्यत्स्नेहांश्च फलसम्भवान्॥

वर्जयेन्मधुमांसं च भौमानि कवकानि च। भूस्तृणं शिग्रुकं चैव श्लेष्मान्तकफलानि च॥ *मनु.* ६/ १३-१४

प्रकार के दान को ग्रहण नहीं करते थे।[577] वानप्रस्थ में एक वर्ष तक रखी गई वस्तु का सेवन निषिद्ध माना गया है। इस प्रकार से वानप्रस्थ आश्रम में भोजन व्यवस्था पर प्रकाश डाला गया है। यह नियम कठिन है। लोकाचार में आज भी इसकी उपादेयता है।

४.४.७ पंचमहायज्ञ :-

वानप्रस्थी के लिए प्रतिदिन पंच महायज्ञों को करने को कहा गया है। गृहस्थी के समान वानप्रस्थी भी पंचमहायज्ञों के लोकाचार की पालना करता है। ब्रह्मर्य में इसकी पालना गुरु के सानिध्य में होती है। वानप्रस्थी इन महायज्ञों की पालन पूर्ण श्रद्धा के साथ करता है। जिनका विवेचन इस प्रकार है।

---

[577]. *आप. ध.,* २/९/२३/१०

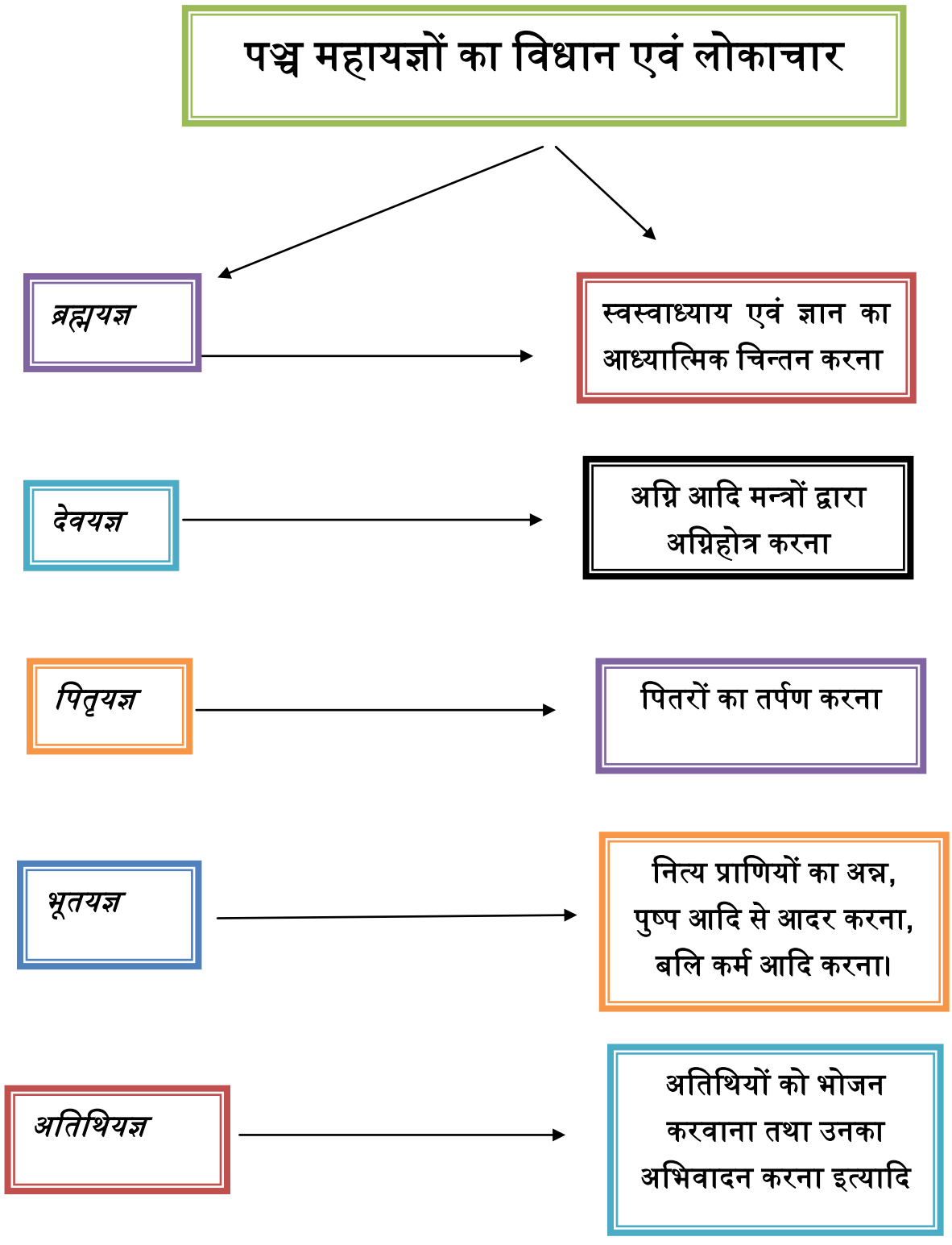
पञ्च महायज्ञों का विधान एवं लोकाचार
ब्रह्मयज्ञ
स्वस्वाध्याय एवं ज्ञान का आध्यात्मिक चिन्तन करना
देवयज्ञ
अग्नि आदि मन्त्रों द्वारा अग्निहोत्र करना
पितृयज्ञ
पितरों का तर्पण करना
भूतयज्ञ
नित्य प्राणियों का अन्न, पुष्प आदि से आदर करना, बलि कर्म आदि करना।
अतिथियज्ञ
अतिथियों को भोजन करवाना तथा उनका अभिवादन करना इत्यादि

४.५ वानप्रस्थ आश्रम के वर्जित कार्य :-

वानप्रस्थ आश्रम में कतिपय कार्यों का पूर्णता के साथ निषेध किया गया है। यहाँ कार्य आश्रम के विरूध माने गए हैं। इनको वानप्रस्थी के द्वारा करना वर्जित था। इनका विवेचन यहाँ प्रस्तुत किया गया है।

४.५.१ खेत में गमन करना :-

वानप्रस्थी के लिए जुते हुए खेत में जाना धर्मसूत्रों में वर्जित बताया गया है।

४.५.२ गाँव में प्रवेश न करना :-

वानप्रस्थ आश्रमवासी के लिए गाँव में जाना वर्जित कहा गया है।

४.५.३ अन्य निषध कार्य :-

इन के अतिरिक्त वानप्रस्थी के अन्य भी निषध कार्य होते थे। जैसे- झुठ बोलना, मादक पदार्थों का सेवन करना, अपशब्द बोलना आदि।

४.६ वानप्रस्थ के भेद :-

धर्मसूत्रों वानप्रस्थ के अलग - अलग प्रकार से भेद किये हैं वैखानस के अनुसार वानप्रस्थी दो प्रकार के होते हैं। सपत्नीक और अपत्नीक।[578] अपत्नीक को पुनः चार प्रकार से विभक्त किया गया है। औदुम्बर, वैरीञ्च, बालखिल्य,तथा फेनप। इनका क्रमशः वर्णन इस प्रकार से है।

४.६.१ सपत्नीक :-

अपनी भार्या के साथ वन में जाकर लोकाचार के नियमों के साथ जीवन यापन करने वाला सपत्नीक वानप्रस्थी कहलाता है। वह वानप्रस्थ आश्रम में अपनी पत्नी के साथ जीवन यापन करता है और लोकाचार के नियमों का पालन करता है।

---

578. *वैखा. ध.*, १/७-८

४.६.२ अपत्नीक :-

यह वानप्रस्थी अपनी भार्या के बिना वन में जाकर जीवन यापन करता है। अतः इसको अपत्नीक वानप्रस्थी कहा गया है। लोकाचार के सभी नियमों को जीवन में अपनाते हुए यह परमतत्त्व की साधना में लीन होकर अपना जीवन यापन करता था।

४.७ सपत्नीक के भेद :-

अपनी भार्या अर्थात् पत्नी के साथ जंगल में रहकर कठोर नियमों के साथ जीवन यापन करता था। वह सपत्नीक वानप्रस्थी कहलाता था। सपत्नीक के चार भेदों का वर्णन धर्मसूत्रों में किया गया है। जिनका विवेचन इस प्रकार है -

४.७.१ औदुम्बर :-

यह वानप्रस्थी जंगल में रहता था। वृक्षों से गिरे हुए फलों एवं औषधियों का सेवन करता था। वन में सदा यह विचरण करता रहता था। लोकाचार के नियमों के अनुसार यह भजन एवं चिन्तन में अपना अधिक समय व्यतीत करता था। अतः इसको औदुम्बर कहा गया है।[579]

४.७.२ वैरिञ्च :-

यह वानप्रस्थी केवल प्रियंगु (शाक विशेष), जौ एवं नीवार (जलीय भूमि में स्वतः उत्पन्न धान) आदि का सेवन करते हुए जीवन यापन करता था। यह सदा अतिथियों का सत्कार करता था। अग्निहोत्र का भी सम्पादन करता था।[580]

---

579. *वैखा. ध.* १/७/३

580. *वही*,१/७/५

४.७.३ फेनप :-

यह वानप्रस्थी दण्ड को धारण करते हुए, बलिवैश्व यज्ञ करते हुए तपोमय जीवन यापन करते हैं। फेनप वानप्रस्थी सूर्य की पूजा करते हुए तप करते थे। गिरे हुए फलादि खाने वाले वानप्रस्थी को फेनप कहा गया है।

४.७.४ वालखिल्य :-

यह वानप्रस्थी जटाओं एवं वल्कल आदि को धारण करता था। ये पौर्णमासी को पर्याप्त भोजन करके शेष माह तप करते थे। इसके नियम कठिन होते थे। धर्मशास्त्रों में इस प्रकार के वानप्रस्थी को वालखिल्य नाम से जाना गया है।

४.८ अपत्नीक के भेद :-

अपत्नीक वानप्रस्थी के सन्दर्भ में वैखानस धर्मसूत्र में विस्तार से वर्णन किया गया है। इसमें अनेक अपत्नीक वानप्रस्थियों का वर्णन किया गया है।[581] जैसे :- कबूतर की वृत्ति अपनाने वाले कपोत, उञ्छ दण्ड धारण करने वाले, दन्तोलुखली (दाँत ही हैं जिसके उखल अर्थात् दाँतों से पिसा अन्न को खाने वाले), धूमाशी (धूम भक्षण करने वाले), बिल्वासी, पाषाणशाली आदि।

४.९ बौधायन के अनुसार वानप्रस्थ के भेद एवं स्वरूप :-

बौधायन सूत्र में वानप्रस्थ के भेद एवं स्वरूप का स्पष्ट विवेचन मिलता है। यहाँ पर वानप्रस्थी के भेद एवं उनके अपर भेदों का स्वरूप की सरलतम व्याख्या की गई है। जिसका वर्णन यहाँ वर्णित है। बौधायन धर्मसूत्र में वानप्रस्थ के भेदों का स्पष्ट वर्णन किया गया है। जिसमें कहा गया है कि - **अथ वानप्रस्थस्य द्वैविध्यम्।** अर्थात् वानप्रस्थ के दो वर्ग अथवा भेद होते हैं। इनका स्वरूप विवेचन करते हुए कहा गया

---

581. *वैखा. ध., १/७/८*

है - **पचमानका अपचमानकाश्चेति।** अर्थात् पचमानक और अपचमानक।[582] इसमें भी पचमानक अग्नि पर भोजन पकाने वाला तथा अपचमानक भोजन न पकाने वाले को कहा गया है। पचमानक को यहाँ पर पाँच प्रकार का बतलाया गया है।

बौधायन धर्मसूत्रकार के अनुसार वानप्रस्थ के मुख्यतः दो भेद होते हैं। पचमानक तथा अपचमानक।[583]

४.९.१ पचमानक :-

यह भोजन को पकाकर ग्रहण करता था। इसके द्वारा भोजन को अग्नि पर पकाया जाता था। अतः इसको पचमानक कहा जाता था। इसके पाँच भेद होते थे। जिनका वर्णन इस प्रकार है।

४.९.१.१ सर्वारण्यक :-

वन में सभी प्रकार की खाद्य वस्तुओं को धारण करने वाले। जिसके द्वारा वन से प्राप्त खाद्य सामग्री का भक्षण किया जाता था। उसे सर्वारण्यक का नाम प्रदान किया गया था। यह भी दो प्रकार का होता था।

- **इन्द्रावसिवत**
- **रेतोसिक्त**

४.९.१.१.१ इन्द्रावसिवत : -

यह केवल वर्षा से उत्पन्न खाद्य सामग्री का सेवन करता था जिसमें कन्दमूल, फल आदि का वर्णन मिलता है। यह प्रातः कालीन हवन आदि करके अतिथियों का स्वागत करके भोजन ग्रहण करता था।[584]

---

582. *बौधा. ध.* , तृतीय खण्ड, पृ., ३१५

583. अथ वानप्रस्थस्य द्वैविध्यम्। पचमानका अपचमानकाश्चेति।, *बौधा. ध.,* ३/३/३/१-२

४.९.१.१.२ रेतोसिक्त :-

यह वीर्य द्वारा उत्पन्न वस्तुओं का सेवन करता था। अर्थात् ब्रह्मचारी के द्वारा भोजन कर लेने पर अवशिष्ट भोजन को ग्रहण करता था। अतः इसको रेतोसिक्त कहा गया है।

४.९.१.२ वैतुषिका :-

वैतुषिका वानप्रस्थी केवल छिलका सहित भोजन ग्रहण करते थे। यह तुष्य धान्य आदि को त्याग करते हुए चावल पकाकर खाते थे। बिना कूटे हुए जंगली अन्न को ग्रहण करते थे ।

४.९.१.३. कन्दमूलभक्षी :-

यह केवल कन्दमूल फलों पर आधारित थे। कन्दमूल फलों का सेवन करते हुए यह अपना जीवन व्यतीत करते थे।

४.९.१.४. फलाहारी :-

यह पचमानक वानप्रस्थी केवल फलाहार पर जीवन व्यतीत करता था। इसे फलभक्षक भी कहते थे।

४.९.१.५. शाकाहारी :-

यह वानप्रस्थी केवल शाकभक्षण द्वारा अपना जीवन यापन करता था। अतः इसको शाकाहारी अथवा शाकभक्षक कहा गया है। इस प्रकार से पचमानक के स्वरूप का वर्णन किया गया है। पचमानक के अन्तर्गत सर्वारण्यक को भी दो प्रकार का बताया गया है। ये वन में दो प्रकार से अपनी भक्षण वृत्ति को चलाते हैं। जिसमें इन्द्र द्वारा उत्पन्न वस्तुओं का भक्षण करना तथा वीर्य से उत्पन्न जीवों के मांस का भक्षण

---

584. *बौधा. ध.*, ३/३/३/६

(मृग आदि पशु) करना। इसी क्रम में इनके द्वारा भक्ष्य पदार्थों का विवेचन भी यहाँ विस्तार से किया गया है।

- **इन्द्र (वृष्टि) द्वारा उत्पन्न वस्तुएँ -** वृक्ष, लता एवं झाड़ी आदि से प्राप्त फल।
- **वीर्य (पशुओं) द्वारा उत्पन वस्तुएँ** - बाघ ,भेडिया, मृग आदि का मांस ।[585]

इस प्रकार से पचमानकों के सन्दर्भ में दूसरी व्याख्या में बौधायन सूत्र में वर्णन करते हुए कहा गया है कि - पचमानक अनेक प्रकार से भोजन ग्रहण करते हैं। जिनका वर्णन यहाँ वर्णित है।

१.छिलका सहित जंगली अन्न को ग्रहण करना।

२.तुषधान्य को छोड़कर चावल मंगाकर उसे पकाकर भोजन करना ।

३.सांयकाल और प्रातः काल अग्नि द्वारा होम कार्य करना।

४.भिक्षुकों और ब्रह्मचारियों को अंश देकर शेष अन्न को ग्रहण करना।

इसी क्रम में तीसरी व्याख्या में भी कहा गया है जिसका विवेचन यहाँ वर्णित है । जो भी कन्द मूल फलों आदि का भक्षण करते हैं वे भी इस प्रकार से भोजन करें। इस प्रकार पचमानकों की सरल व्याख्या का वर्णन बौधायन सूत्र में प्रतिपादित है।

४.९.२ अपचमानक :-

वह वानप्रस्थी जो बिना पकाए भोजन को ग्रहण करता था उसको अपचमानक कहा गया है।[586] अपचमानकों का भोजन ग्रहण भिन्न प्रकार का होता है जिसका विवेचन इस प्रकार है। अपचमानकों में भोजन को पकाकर न खाने वाले भी पाँच

---

585. *बौधा. ध.,* तृतीय खण्ड, पृ. , 317

586. *धर्मसूत्रीय आचार संहिता* , पृ.५५

प्रकार के होते हैं।[587] यह अपचमानक अग्नि पर पकाए बिना ही भक्ष्य पदार्थों का सेवन करता था। अतः यह अपचमानक कहलाता है। इसके पाँच उपभेद इस प्रकार है। अपचमानक के भेदों का वर्णन यहाँ प्रस्तुत किया गया है।

१. उन्मज्जक

२. प्रवृताशिन

३. मुखेनादायिन

४. तोयाहार

५. वायुभक्षक :-

इस सभी अपचमानकों की भोजन ग्रहण करने का विधान अलग है। जिसका विवेचन इस प्रकार है।

४.९.२.१उन्मज्जक :-

उन्मज्जक व्यक्ति द्वारा सदैव लोहे और पत्थरों के उपकरणों के बिना ही तैयार किया हुआ भोजन ग्रहण करता था।

४.९.२.२ प्रवृताशिन :-

यह व्यक्ति हाथ में लेकर भोजन ग्रहण करता था। अतः इसको प्रवृताशिन कहा गया है।

४.९.२.३ मुखेनादायिन :-

ये अपचमानक पशुओं की तरह मुँह से ही अपना भोजन ग्रहण करते हैं।

---

587. बौधा. ध., तृतीय खण्ड, पृ. , ३१८

यह व्यक्ति पशुओं के समान भोजन ग्रहण करता था। अतः इसको मुखेनादायिन कहा गया है।

४.९.२.४ तोयाहार :-

यह व्यक्ति केवल जल पर आधारित है। यह जल के द्वारा अपना जीवन यापन करता था। अतः इसको तोयाहार कहा गया है।

४.९.२.५ वायुभक्षक :-

यह व्यक्ति सर्वाधिक कठिन नियमों का पालन करता था। यह केवल हवा का भक्षण करता हुआ जीवन व्यतीत करता था। वायुभक्ष अपचमानक किसी भी प्रकार का भोजन ग्रहण नहीं करते हैं। इसी प्रकार से वैखानसों के लिए दस प्रकार की दीक्षा का वर्णन मिलता है। यह दीक्षा सभी वैखानसों के लिए महत्त्वपूर्ण होती है। जिसका स्पष्ट वर्णन इस प्रकार है।

१. शास्त्रों के अनुसार नियमों का पालन करते हुए दण्ड धारण करके मौन रहकर अपने धर्म का पालन करना चाहिए।

२. सभी प्रकार के वातावरण में रहने का अभ्यास होना चाहिए।

३. सदैव अपनी तपस्या में निरत साधनारत रहना चाहिए।

४. वन में निवास करते हुए सदैव संतुष्ट रहना चाहिए।

५. वृक्षों की छाल और चर्म को ही वस्त्र रूप में धारण करना चाहिए।

६. तपस्या पूर्व अभ्यागत अतिथियों का पूर्ण स्वागत करना चाहिए।

इस प्रकार से वैखानस सभी नियमों का पालन करते हुए अपना जीवन यापन करना चाहिए।

४.१० वानप्रस्थ आश्रम की वर्तमान प्रासंगिकता :-

जीवन का वह आधार जहाँ पर मनुष्य गृहस्थी के सभी उत्तरदायित्वों से मुक्त होकर वन की ओर गमन करता है। इस प्रकार का वानप्रस्थी होना और ऐसे वानप्रस्थी का मिलना वर्तमान समय में कठिन है। आज जो वन है वो सरकार के संरक्षण में हैं क्योंकि वर्तमान में मानव की लालसा के सामने कुछ भी सुरक्षित नहीं रहा है। वन, जंगल, नदियाँ, पहाड़ आदि प्राकृतिक संसाधनों का अन्धाधुन्ध उपभोग ने इनको हाशिये पर ला कर रख दिया है। इसका एक कारण यह भी है की आज आश्रम व्यवस्था अपने यथा स्वरूप में नहीं है। जब ५० वर्ष की आयु में गृहत्याग कर मोह माया से दुर होना चाहिए उस समय पर आज का मानव मृत्यु पर्यन्त धन जोड़ने में लगा रहता है। वानप्रस्थी का वन से गहरा जुड़ाव होता था। वह पूर्णतः वन पर निर्भर करता है ऐसे में उनका संरक्षण स्वतः हो जाता है। वानप्रस्थ जीवन न केवल अपने लिए अपितु समाज और पर्यावरण का विभिन्न प्रकार से हित करता है। वानप्रस्थ आश्रम में आने पर वानप्रस्थी के पुत्र आदि भी अपने कर्तव्यों के प्रति सजग होते हैं। अतः इसमें कोई सन्देह नहीं है की वर्तमान में पर्यावरण और समाज दोनों के हित के लिए वानप्रस्थ से सम्बन्धित लोकाचार के पुनर्पाठ की आवश्यकता है।

॥ इति चतुर्थ - अध्याय ॥

पञ्चम अध्याय

संन्यास आश्रम में लोकाचार

पंचम अध्याय

संन्यास आश्रम में लोकाचार

संन्यास आश्रम में लोकाचार का पालन करना संन्यासी को अधिक आनन्द प्रदान करने वाला है। संन्यास आश्रम में लोकाचार के नियमों का वर्णन सरलता एवं गम्भीरता के साथ प्रतिपादित है। इसमें संन्यासी अपना अधिकतर समय साधना एवं तपस्या में व्यतीत करता है। तथापि वह लोकाचार के नियमों का यथासमय एवं यथासामर्थ्य पालन करता है। इसके स्वरूप एवं नियमों का वर्णन यहाँ विवेचित है जिसका वर्णन इस प्रकार है।

५.१ संन्यास आश्रम का स्वरूप :-

सांसारिक भोग आदि की भावनाओं का और सर्वस्व का त्याग करके पूर्ण वैरागी बनकर, परोपकारार्थ विचरण करने की दीक्षा लेना तथा ब्रह्म में लीन रहकर मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना संन्यासाश्रम है। संन्यास आश्रम - संन्यासी को अनिकेतन (जिसका कोई निकेतन नहीं), यायावर, परिव्राजक, वाट्यः अथवा भिक्षु आदि नाम है।

संन्यास आश्रम चारों आश्रमों में चतुर्थ स्थान है। इसमें आयु का क्रम पचहत्तर वर्ष के बाद माना गया है। ग्रन्थों के अनुसार संन्यास आश्रम की आयु ७६ से १०० वर्ष तक की मानी गई है। पिचहतर वर्ष की आयु के पश्चात् के समय को संन्यास आश्रम कहते हैं। इसमें व्यक्ति सांसारिक विषय वासनाओं का त्याग करके संन्यास आश्रम में प्रवेश करता है। गौतम धर्मसूत्र में संन्यासी के लिए परिव्राजक एवं संन्यासी के आचारों का अनेक प्रकार से विवेचन किया गया है। आपस्तम्ब में इसके विषय में

कहा गया है कि - ब्रह्मचर्य आश्रम के नियमों का पालन करने वाला ही संन्यास आश्रम को ग्रहण कर सकता है।[588]

आपस्तम्ब सूत्रकार ने संन्यासी के लिए परिव्राज शब्द का भी प्रयोग किया है। परिव्राजक अर्थात् प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से सभी प्रकार के अर्थों को बिना किसी लोभ के त्याग करने वाले को परिव्राजक ही संन्यासाश्रम में प्रवेश कर सकता है।[589]

बौधायन ने परिव्राजक एवं संन्यासी पदों का प्रयोग किया है जबकि वैखानस धर्मसूत्र में भिक्षु एवं संन्यासी दोनों पदों का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार से आपस्तम्ब धर्मसूत्र में मौन और परिव्राजक का वर्णन किया गया है। यह आश्रम संन्यासी का आश्रम होता है। जिसमें वह लोकाचारी नियमों का पालन करता हुआ जीवन व्यतीत करता है।

५.२ संन्यास आश्रम के अधिकारी (वर्ण) :-

संन्यास आश्रम में प्रवेश करने के लिए धर्मसूत्रों से पूर्व भी वर्णन मिलता है। *बृहदारण्यकोपनिषद्* एवं *मुण्डकोपनिषद्* में वर्णानुसार संन्यास आश्रम ग्रहण करने के सन्दर्भ में बताया गया है। यद्यपि इस के प्रमाण आगे चलकर धर्मसूत्रों में वर्णित किए गए हैं। जो कि विचारणीय है। संन्यास आश्रम किस वर्ण के लिए उचित है, इस प्रश्न पर धर्मशास्त्रों में मतभेद हैं। *बृहदारण्यक, मुण्डकोपनिषद्* एवं *वैखानस धर्मसूत्र* के अनुसार केवल ब्राह्मण ही संन्यासी बन सकता है। कुछ विद्वानों ने सभी वर्णों को संन्यास के लिए योग्य माना है। इसके सन्दर्भ में कहा गया है कि - जब मनुष्य अपने सामाजिक कार्यों से निवृत्त हो जाए वह संन्यास आश्रम में आगमन कर सकता है।

संन्यास आश्रम में प्रवेश को तीन प्रकार का माना गया है।

---

588. अत एव ब्रह्मचर्यवान् प्रव्रजति। *आप. ध.* २/९/८

589. दृष्टादृष्टार्थान् सर्वानेवाऽरम्भान् परित्याऽत्मलाभाय संन्यास आश्रम परिव्रजतीति। *आप. ध.* २/९/७,

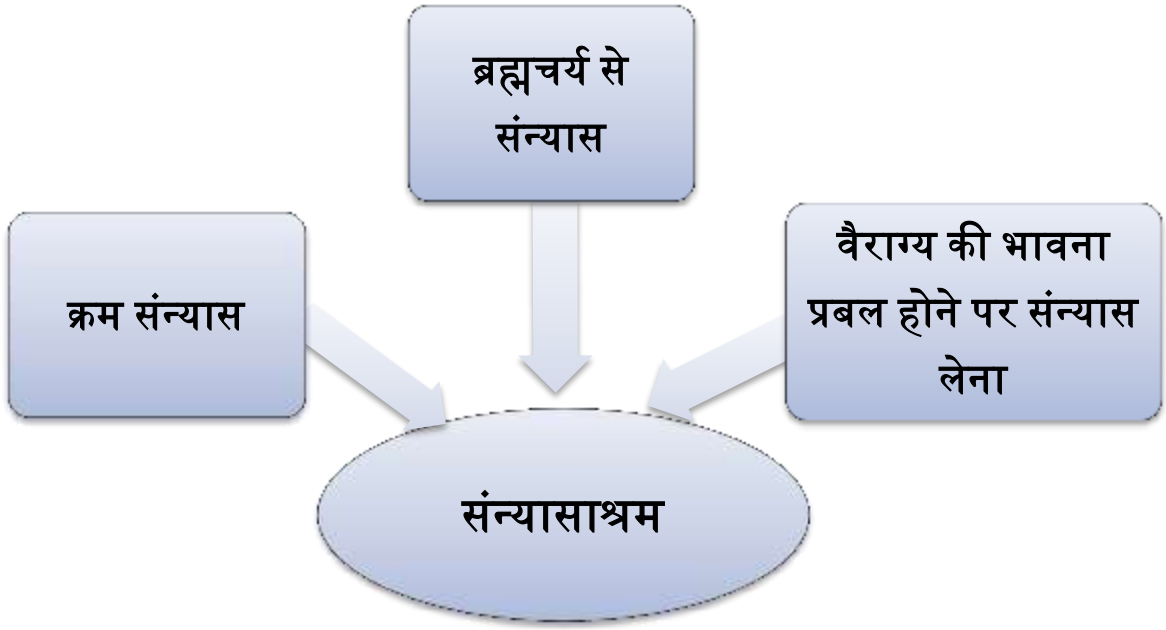

१. क्रम संन्यास:-

क्रम संन्यास से अभिप्राय सभी आश्रम का निर्वहन क्रमशः करते हुए संन्यासी होना। अर्थात् ब्रह्मचर्य आश्रम का पालन करके गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करना; गृहस्थ आश्रम के सभी कर्तव्यों को पूर्ण करके वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करना; इस प्रकार क्रमशः वानप्रस्थ धर्म का पालन करके संन्यास आश्रम में प्रवेश करना।

२.ब्रह्मचर्य से संन्यास :-

यहाँ पर ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य आश्रम से ज्ञान प्राप्ति के उपरान्त गृहस्थी न बनकर संन्यासी की तरह जीवन जीने की इच्छा से संन्यास आश्रम में प्रवेश करता हैं।

३.वैराग्य की भावना प्रबल होने पर संन्यास लेना :-

जब मनुष्य में वैराग्य की भावना प्रबल होती है तब वह संन्यास आश्रम में प्रवेश कर संन्यासी की तरह जीवन यापन करता है। वैराग्य की भावना रखने वाला

मनुष्य ब्रह्मचर्य के उपरान्त अथवा गृहस्थ आश्रम में रहते हुए कभी भी संन्यास की ओर गमन करता है।

जाबालोपनिषद् में भी कहा गया है - जो व्यक्ति संसार से विरक्त हो जाए, वह संन्यास आश्रम में प्रवेश ले सकता है। यही वर्णन अन्य स्मृतिग्रन्थों में भी मिलता है। जिसके नियम निम्नलिखित हैं। जैसे :-

१.सभी को समान दृष्टि से देखने वाला।

२.सामाजिक कार्यों से निवृत्त होने वाला ।

३.आध्यात्मिक विषयों से संयुक्त होना।

४.सांसरिक उपभोगों को त्याग करने वाला।

इस प्रकार से संन्यास आश्रम में सत्यनिष्ठ और आध्यात्मिक व्यक्ति प्रवेश ले सकता था। डॉ. मुन्शीराम के अनुसार संन्यास का अधिकारी केवल ब्राह्मण होता है। शूद्र के लिए केवल गृहस्थ है। पर द्विजन्मा (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) अर्थात संस्कारी जीवों के लिए गृहस्थ के उपरान्त वानप्रस्थ की कल्पना की गयी है। पर संन्यास आश्रम में क्षत्रिय और वैश्य वृत्ति के प्रवेश नहीं कर पाते। उनके पास वह योग्यता ही नहीं होती जो उन्हें संन्यास में स्थिर रख सके। ब्राह्मी वृत्ति ही इसके लिए योग्य समझी गयी है। अतः ब्राह्मण ही संन्यास में प्रवेश का अधिकारी है।[590]

५.३ संन्यास ग्रहण की विधि एवं लोकाचार :-

संन्यास आश्रम में प्रवेश करना और इसके नियमों को धारण करना वानप्रस्थी के लिए लाभकारी था। अधिकतर वानप्रस्थी जन संन्यास आश्रम का आनन्द उठाने हेतु इसमें प्रवेश करते थे। वह ब्रह्मचारी या गृहस्थ जिसने वानप्रस्थ के नियमों का

---

590. *वैदिक संस्कृत और संस्कार,* डॉ. मुन्शीराम, पृ.११५

पूर्णता के साथ पालन किया, वह संन्यास आश्रम में प्रवेश कर लेता था। उसके लिए अधोलिखित नियम अनिवार्य थे जिनका वर्णन इस प्रकार है -

१. ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला होना चाहिए।

२. गृहस्थ और वानप्रस्थ में सूक्ष्मता के साथ निपुण होना चाहिए।

३. लोकाचार और व्यवहार के कारण समाज में प्रतिष्ठित होना चाहिए।

४. गृहस्थ आश्रम के कार्यों से निवृत्त होना चाहिए।

५. मधुरता को धारण करने वाला और संयमी होना चाहिए।

६. वानप्रस्थ की आयु को सरलता से पूरा कर लिया हो।

इन नियमों का पालन करने वाला व्यक्ति संन्यास आश्रम में प्रवेश कर सकता है। इनके द्वारा ही वह संन्यास आश्रम को ग्रहण करते हुए लोकाचार के नियमों का पालन करते हुए अपना जीवन व्यतीत करे। इस प्रकार का वर्णन धर्मसूत्रों में किया गया है।

५.४ संन्यास आश्रम के प्रमुख नियम एवं लोकाचार :-

संन्यास आश्रम में संन्यासी के लिए कठिन नियमों का पालन करना अनिवार्य था। इसमें वह सभी प्रकार से लोकाचारीय नियमों को जीवन में अपनाते हुए मोक्ष पथ पर अग्रसर होता था। इसके नियमों का संन्यासी द्वारा पालन करन अनिवार्य था। इनका सामान्य विवेचन यहाँ प्रस्तुत किया गया है -

१. धार्मिक विषयों का निरन्तर चिन्तन करना।

२. ब्रह्मचर्य एवं साधनगत नियमों का पालन करना।

३. सात्त्विक भोजन ग्रहण करना।

४. धार्मिक यज्ञों का सम्पादन करना।

५. भिक्षा के नियमों का पालन करना।

६. उपासना द्वारा स्वयं को तपोनिष्ठ सिद्ध करना।

७. दीक्षा के द्वारा स्वयं दीक्षित करते हुए परमतत्त्व की साधना करना।

८. व्यवहारिक एवं लोकाचारिक नियमों को संन्यास आश्रम में स्थापित करना।

इस प्रकार से संन्यास आश्रम में लोकाचार के नियम एवं साधनगत प्रमुख कार्यों का वर्णन किया गया है। बौधायन एवं वैखानस धर्मसूत्रों में संन्यास दीक्षा की विधि का प्रतिपादन किया गया है। संन्यास दीक्षा से पूर्व व्यक्ति को अधोलिखित नियमों का पालन करना अनिवार्य था।

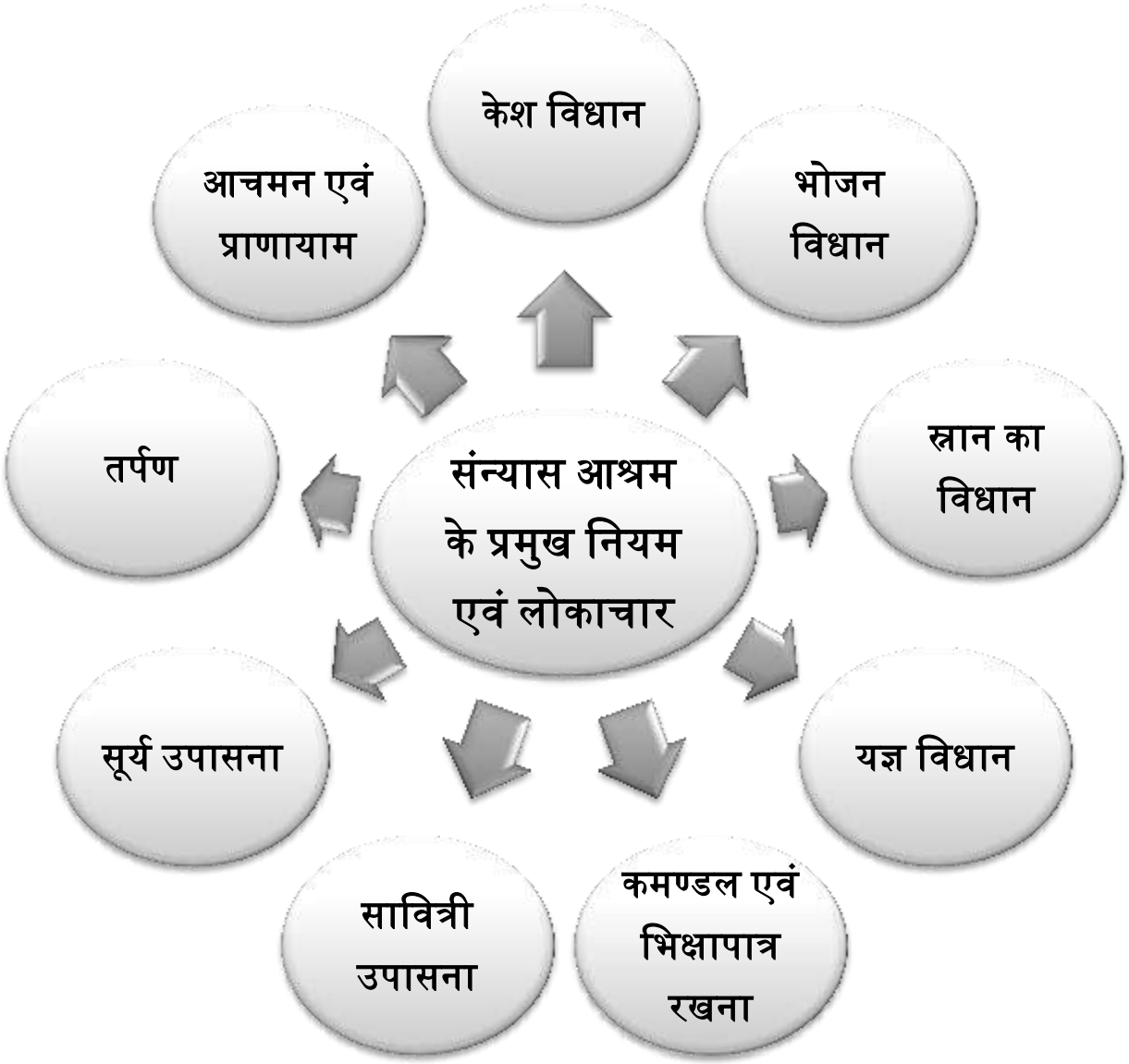

५.४.१ केश विधान :-

वानप्रस्थ आश्रम में संन्यासी के द्वारा केश सवारने का विधान सामान्य बताया गया है। संन्यासी अपनी दाढी और मूछ कटवाकर केवल शिखा के सहारे अपना जीवन यापन करता था। वह चोटी को भी कटवा लेता था। वह दैनिक कार्यों से मुक्त होना अनिवार्य मानता था। इस प्रकार का केश विधान धर्मसूत्रों में वर्णित किया गया है।

५.४.२ भोजन ग्रहण का विधान :-

संन्यास आश्रम में संन्यासी के द्वारा भोजन ग्रहण करने का विधान सामान्य माना गया है। संन्यास आश्रम में प्रवेश करने पर वह संन्यासी सभी नियमों का पालन करता था। जैसे :-

१. संन्यास आश्रम की दीक्षा ग्रहण करना ।

२. अपना दैनिक कार्य हेतु दण्ड धारण करना।

३. अपना दैनिक कार्य हेतु कमण्डलु धारण करना।

४. नित्य वस्त्र प्रक्षालन हेतु जल ग्रहण करना।

५. दैनिक प्रायोगिक छीकें को ग्रहण करना।

इस प्रकार से सभी प्रायोगिक वस्तुओं को ग्रहण करते हुए संन्यासी गाँव से बाहर की ओर प्रस्थान करता था। वह दैनिक भोजन में दूध, दही और घृत का सेवन कर सकता था। इनका मिश्रण करके वह यथा समय भोजन करता था। इसके पश्चात् वह उपवास भी करता था और जल ग्रहण करता था। यह उसका भोजन विधान माना गया है।

५.४.३ यज्ञ का विधान :-

संन्यास आश्रम में संन्यासी स्वेच्छा के धार्मिक कार्यों का सम्पादन करता था। सांयकाल में वह सूर्य के अस्त होने से पूर्व गार्हपत्य अग्नि को प्रज्वलित करता था। मन्त्रों का उच्चारण करते हुए देवों का आहवाहन करता था। इस प्रकार से वह यज्ञ के कार्य का सम्पादन करता हुआ साधना करता था। इस साधना में वह निरन्तरा के

साथ पवित्र अग्नि को आहुति प्रदान करता था। अन्त में देवों की स्तुति करके आत्मिक शान्ति का निवेदन करता था। यह उसके जीवन का यज्ञ विधान बताया गया है।

५.४.४ स्नान का विधान :-

संन्यास आश्रम में स्नान विधान में दण्ड और कमण्डलु के साथ पवित्रीकरण का प्रयोग बताया गया है। वह इनको स्नान वाले स्थान पर ले जाकर इनका पवित्रीकरण करता था। वह जल देवता और हिरण्यवर्ण और पवमान मन्त्रों का पाठ करता था। ऐसा करके वह शान्ति दायक स्थान में बैठक आत्मिक चिन्तन करता हुआ साधना में लीन होता था। इस प्रकार से संन्यास आश्रम में स्नान का विधान किया गया है।

५.४.५ कमण्डल एवं भिक्षापात्र धारण करना :-

संन्यास आश्रम में कमण्डल और भिक्षापात्र ग्रहण करने का विधान स्पष्ट किया गया है। यह उसके जीवन की दैनिक वस्तुएँ होती थी। कमण्डल से जल का प्रयोग करना उसका कार्य था और भिक्षापात्र में वह भोजन या भिक्षा आदि को एकत्रित करता था। बौधायन धर्मसूत्र के मतानुसार वह तीन दण्ड धारण कर सकता था।

५.४.६ आचमन एवं प्राणायाम का विधान :-

संन्यासी के द्वारा जल का आचमन करना और प्राणायाम द्वारा शरीर की शुद्धि करना प्रमुख कार्य था। संन्यासी जलाशय के पास जाकर आचमन करता था। स्नान आदि से निवृत्त होकर प्राणायम क्रम करता था। उसके लिए धर्मसूत्रों में सोलह प्राणायामों को करने का विधान बताया गया है। इसके बाद वस्त्र स्वच्छ वस्त्रों को धारण करता था। यह विधान उसके लिए स्पष्ट वर्णित है।

५.४.७ तर्पण की विधि :-

संन्यासी के लिए धर्मानुसार कहा गया है कि - वह पितृऋण से मुक्त होने के लिए जल से तर्पण करे और अधोलिखित मन्त्र का जप करे।

" ओम् भूस्तर्पयामि, ओम् भुवस्तर्पयामि, ओम् सुवस्तर्पयामि। ओम् महस्तर्पयामि। ओम् जनस्तर्पयामि। " इस प्रकार से वह मन्त्रोच्चारण करता हुआ देवों और पितरों को जल का तर्पण करे। पितरों के तर्पण में वह अधिलिखित मन्त्र का उच्चारण करे।जैसे - **" ओम् भूस्स्वधा। ओम् भुवस्स्वधा। ओम् सुवस्वधा। ओम् भूर्भुवस्सुचर्महर्नशः। "** इस प्रकार से संन्यासी द्वारा तर्पण का विधान बताया गया है।

५.४.८ सूर्य उपासना :-

संन्यास आश्रम में सूर्य की उपासना करना प्रमुख धर्म बताया गया है। यह संन्यासी के लिए लोकचारीय नियम है। वह प्रातःकालीन सभी कार्यों से निवृत्त होकर सूर्य की उपासना करे। यह उपासना संन्यासी के तेज में वृद्धि करती है। यह उसके सात्त्विक भावों को बढाते हुए परमतत्त्व की सिद्धि में सहायक है।

५.४.९ सावित्री उपासना :-

संन्यासी के लिए सावित्री देवता की उपासना करनी चाहिए। इस प्रकार से धर्मशास्त्रों में वर्णन मिलता है। सावित्री उपासना उसकी साधना को गति प्रदान करती है। उसका मन एकाग्रचित होकार साधना में संयुक्त होता है।

५.५ संन्यास आश्रम में दीक्षा विवेचन एवं लोकाचार :-

संन्यास आश्रम में दीक्षा का महत्त्वपूर्ण स्थान माना गया है। यह दीक्षा साधक को परम लक्ष्य की ओर ले जाती है। अतः साधक को साधना में लीन होने के लिए श्रेष्ठ गुरु से दीक्षा लेनी चाहिए। इसके बारे में अधिकतर धर्मग्रन्थों में विस्तार से वर्णन नहीं मिलता है। दीक्षा के सन्दर्भ में विद्वानों द्वारा भी मतभेद है। कतिपय विद्वान् दीक्षा को श्रेष्ठ गुरु की कृपा ही मानते हैं। जबकि अन्य के द्वारा दीक्षा को संन्यास आश्रम की प्रवेशिका माना गया है। दीक्षा ग्रहण करने पर साधकों में दीक्षित संस्कारों का आगमन होता है। यह दीक्षा लोकाचारीय नियमों का सम्पादन करते हुए मानव को गुणवान एवं दीक्षित बना देती है।

५.५.१ धार्मिक स्वाध्याय एवं चिन्तन :-

धार्मिकचर्या से तात्पर्य सन्ध्या, उपासना एवं यज्ञ से है - संन्यास आश्रम में धार्मिक विषयों का चिन्तन करना अनिवार्य बताया गया है। स्वाध्याय से मन को गति प्राप्त होती है। वह लक्षित विषय को प्राप्त करने में शान्त होता है। प्रतिदिन दैनिक यज्ञ का सम्पादन करने के बाद धार्मिक चिन्तन करता था। यही उसका दैनिक जीवन का लोकचारीय कर्म था।

५.५.२ संध्या और उपासना का विधान :-

संन्यासी के द्वारा सन्ध्या और उपासना करना अनिवार्य था। वह अपने साधना चिन्तन के द्वारा परिपक्व बनाता था। वह इसके लिए प्रात: कालीन शीघ्रता से जागता था। सभी नित्यकर्मों से निवृत्त होकर सन्ध्या वन्दन करता था। वह प्रतिदिन इस प्रकार से प्राणायाम करता हुआ जप भी करता था। वह नित्य प्रणव (ॐ) की उपासना करता था। अपनी साधना, उपासना और सन्ध्या में वह सभी प्रकार के नियमों का पालन करता था।

५.६ पञ्च महायज्ञों का विधान एवं लोकाचार :-

संन्यास आश्रम में पञ्च महायज्ञों का महत्त्वपूर्ण स्थान माना गया है। इनके द्वारा उसके लोकाचारा भावों का विकास होता है। इसलिए गृहस्थ और वानप्रस्थ के समान संन्यासी के लिए यज्ञों का विधान धर्मसूत्रों में किया गया है। इनमें पञ्चमहायज्ञों का सम्पादान करना अनिवार्य था। जिनका विवेचन इस प्रकार है।

५.६.१ ब्रह्मयज्ञ :-

यह यज्ञ संन्यासी द्वारा स्वाध्याय एवं ज्ञान फल हेतु किया जाता था। इसमें आध्यात्मिक प्रवचन भी किए जाते थे। अतः अपने ज्ञान के विकास हेतु संन्यासी ब्रह्मयज्ञ का सम्पादन करता था।[591]

५.६.२ देवयज्ञ :-

यह यज्ञ संन्यासी के लिए अनिवार्य नहीं था। क्योंकि संन्यासी गृह्याग्नि एवं पत्नी विहीन होकर यत्र - तत्र विचरण करता है।[592] अतः संन्यासी प्रातः सायं अग्निहोत्र के मन्त्रों का जाप करे तथा जिसमें अग्नि आहुति देने का आवश्यकता नहीं थी। यही उसका देवयज्ञ था।[593]

५.६.३ पितृयज्ञ :-

यह यज्ञ संन्यासी के द्वारा पितरों को अन्तिम बार जल तर्पण करने हुए किया जाता था। इसका प्रयोग दीक्षा के समय होता था।[594]

५.६.४ भूतयज्ञ :-

यह यज्ञ करने के लिए संन्यासी स्वतन्त्र माना जाता था। संन्यासी स्वयं भोजन बनाकर उसका प्रयोग करता था। वह अपने संग अन्य संन्यासी जनों को भी आमन्त्रित कर लेता था। इसमें संन्यासी को इस कर्म से मुक्त रखा गया है। धर्मसूत्रों में संन्यासी

---

591. *धर्म. आ. सं.*, पृ. ५८

592. *आप. ध.*, २/९/२१/१०

593. *बौधा. ध.*, २/१०/१८/२३

594. *धर्म. आ. सं.*,, पृ. ५९

जनों को भूतयज्ञ का ज्ञान प्रदान करते हुए कहा गया है - अग्निहोत्र मन्त्रों का जाप करें।[595]

५.६.५ अतिथि यज्ञ :-

संन्यास आश्रम में अतिथि यज्ञ करना अनिवार्य नहीं माना गया था। संन्यासी सदैव गृह रहित होकर विचरण करता था। उस पर अतिथि यज्ञ को सम्पादित करने का दायित्व नहीं था। सदैव सर्वविध सामाजिक बन्धनों से वह मुक्त होकर कार्य करता था। यहाँ वह स्वयं अतिथि के रूप मे धर्म का उपदेशक बनता है।

५.७ व्यवहारिक लोकाचार :-

संन्यास आश्रम में व्यवहारिक लोकाचार की उपादेयता स्वछन्द भावयुक्त मानी जाती थी। वह संन्यास आश्रम में आने के बाद किसी भी प्रकार से बन्धनों से बंधना नहीं चाहता था। तथापि संन्यासी के कतिपय लोकाचारीय बिन्दुओं का वर्णन यहाँ प्रस्तुत किया गया है।

५.७.१ संन्यासी का भिक्षाटन :-

संन्यासी का जीवन भिक्षा पर आधारित होता था। वह भिक्षा के द्वारा ही अपना जीवन यापन करता था। धर्मसूत्रों में संन्यासी द्वारा भिक्ष मांगने का वर्णन है। इनमें लिखा गया है कि संन्यासी भिक्षा मांगते समय घरों में जाकर गृहस्वामी के लिए भवत् शब्द का और गृहस्वामीनी के लिए भवती शब्द का प्रयोग करना चाहिए। उसके द्वारा भिक्षा मांगने का समय निश्चित था। जितना समय एक गाय को दुहने में लगता है उतना ही समय संन्यासी भिक्षा मांगने में लगाता था।[596] सभी संन्यासी जनों के लिए भिक्षा मांगने का विधान माना गया था। अपने जीवन यापन के अनुसार वह

---

595. वही, पृ. ५९

596. *धर्म. आ. सं.,* पृ. ५९

अल्प भिक्षा से ही काम चला लेता था। इस प्रकार से संन्यासी के लिए धर्मसूत्रों में भिक्षाटन का वर्णन किया गया है।

५.७.२ संन्यासी का निवास स्थान :-

संन्यासी का निवास स्थान धर्मसूत्रों में अनिश्चित बताया गया है। संन्यासी परिव्राट के रूप में माना गया था।[597] यह निश्चित स्थान पर नहीं रहता था। यह सदा भ्रमण करने वाला था। धर्मसूत्रों के मतानुसार संन्यासी को गृहविहिन होकर रहना चाहिए। संन्यासी के द्वारा एक स्थान पर रहना वर्जित था। वर्षकालीन समय में वह एकस्थान में निवास कर सकता था। अनेक स्थानों पर विचरण करने से संन्यासी विभिन्न प्रकार के ज्ञान अनुभवों को प्राप्त करता था। इस प्रकार से संन्यासी का निवास स्थान सदैव भ्रमणशील माना गया था।

५.८ संन्यासी के भेद :-

धर्मसूत्रों में संन्यासी के भेदों का वर्णन भी किया गया है। संन्यासी सदैव लोकाचार के नियमों का पालन करते हुए अपना जीवन यापन करता था। इसका स्पष्ट रूप से वर्णन वैखानस धर्मसूत्र में संन्यासी के चार भेदों का वर्णन किया गया है।

५.८.१ कूटीचक्र संन्यासी :-

यह संन्यासी का प्रथम स्वरूप माना गया था। कुटीचक्र संन्यासी अपने ही में संन्यासी दीक्षा ग्रहण करके शिखा रखकर और यज्ञोपवीत का पालन करता हुआ, त्रिदण्ड को धारण करता हुआ, कुटुम्बियों से ही भिक्षा माँगकर जीवन यापन करता था। प्राचीन समय में अधिकतर संन्यासी भारद्वाज, गौतम और याज्ञवल्क्य, हारीत

---

597. *आप. ध.,* २/१०/२१/१०

आदि ऋषियों के आश्रमों में रहता था।[598] यह संन्यासी सदैव मोक्ष के लिए तत्पर होता था। इसलिए इसको कुटीचक्र संन्यासी कहा जाता था।

५.८.२ बहूदक संन्यासी :-

यह संन्यासी त्रिदण्ड और कमण्डलु धारण करता था। यह सदैव काषाय रंग के वस्त्र धारण करता था। धर्मसूत्रों में कहा गया है कि यह ऋषितुल्य सात ब्राह्मणों से भिक्षा माँगाकर खाता था। इसको बहुदक के नाम से जाना गया है।

५.८.३ हंस संन्यासी :-

यह संन्यासी हंस के नाम से जाना गया है। यह गाँव में एक रात और नगर में पाँच रात से अधिक भिक्षा हेतु नहीं ठहरता था। यह गोमुत्र का प्रयोग करता था। यह एक मास का व्रत धारण करता था। यह चन्द्रायण व्रत का पालन करता था।[599]

५.८.४ परमहंस संन्यासी :-

यह संन्यासी वृक्षों के नीचे अपना जीवन व्यतीत करता था। समय के अनुसार यह खाली मकानों में भी निवास कर लेता था। इसकी दृष्टि समान मानी गई थी। यह सभी वर्णों से भिक्षा लेकर अपना जीवन यापन करता था। यह सभी जीवों में स्वयं को ही आत्मतत्त्व मानता हुआ मधुर व्यवहार को धारण करत था। इस प्रकार से संन्यास आश्रम में वर्णित संन्यासी के लोकाचारीय बिन्दुओं का वर्णन किया गया है।

५.९ संन्यास आश्रम के लोकाचार की समीक्षा :-

संन्यास आश्रम में लोकाचार का वर्णन मनुष्य के किए प्रेरणादायक है। इसमें संन्यासी के नियम मनुष्य को अनेकविध लोकाचारीय नियमों की प्रेरणा प्रदान करते हैं। जैसे :-

---

598. *धर्म. आ. सं.*, पृ. ५९

599. *धर्म. आ. सं.*, पृ. ६०

१. सत्य का पालन करना चाहिए।

२. धर्म का पालन करना चाहिए।

३. लोकव्यवहार के नियमों का पालन करना चाहिए।

४. प्रतिदिन स्वाध्याय एवं चिन्तन करना चाहिए।

५. प्रणव का प्रतिदिन ध्यान करना चाहिए।

६. सामान्य जीवन में परमलक्ष्य प्राप्ति का उद्देश्य होना चाहिए।

इस प्रकार से संन्यास आश्रम में वर्णित सभी नियम मानव के लिए उपयोगी हैं। इनको धारण करने से आत्मिक शान्ति प्राप्त होती है।

५.१० बौधायन धर्मसूत्र में वर्णित संन्यास आश्रम :-

बौधायन धर्मसूत्र के द्वितीयप्रश्न के दशम अध्याय में संन्यास आश्रम के नियमों का वर्णन किया गया है।[600] गर्भाधान से संस्कृत, वेदाध्ययन से समपन्न और ब्रह्मचर्य व्रत के नियमों का पालन कर गृहस्थ आश्रम के नियमों का पालन करने योग्य व्यक्ति संन्यास आश्रम में प्रवेश कर सकता है। इसके संदर्भ में अन्य आचार्यों का मत है कि संन्यास आश्रम में विधुर पुरुष प्रवेश कर सकता है।[601] विधुर पुरुष संन्यास ग्रहण करने में समर्थ होता है। वह अपने पुत्रों को भली - भाँति धर्म में लगाकर संन्यास ग्रहण कर सकता है। बौधायनसूत्र में कहा भी गया है - **प्रजाः स्वधर्मे प्रतिष्ठाप्य वा ।** [602]

---

600. अथाऽस्ताऱ्यासविधिं व्यख्यास्याम।, *बौधा. ध.*, द्वितीयप्रश्न, दशम अध्याय, पृ. २८१

601. विधुरो वा।, *बौधा. ध.,* द्वितीयप्रश्न, दशम अध्याय, पृ. २८२

602. *बौधा. ध.,* तदेव

इसी प्रकार से अन्य मत में मनुष्य की सत्तर वर्ष की आयु पूरा होने पर संन्यास ग्रहण करने का उपदेश प्रदान किया गया है।[603] यह आश्रम ग्रहण करने पर मनुष्य को सभी प्रकार से कर्मों से मुक्त होकर संन्यास ग्रहण करना चाहिए। कर्म के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए यहाँ स्पष्ट रूप से कहा गया है - ब्रह्म की यह शास्वत महिमा कर्मों के करने से न तो बढ़ती है और न घटती है। आत्मा ब्रह्म के माहात्म्य को जानती है ओर इस कारण जो ऐसा जानता है वह पाप कर्मों से युक्त नहीं होता।[604]

संन्यास आश्रम ग्रहण करने के पश्चात् अधोलोखित कार्य सम्पन्न होते हैं।

१. संन्यासी सामाजिक सम्मान प्राप्त करता है।

२ यह मनुष्य को महान महिमा के स्थान पर पहुचाता है। [605]

३. सांसारिक बंधनों से मुक्ति प्राप्त होती है।

४. आध्यात्मिक साधना प्रबल हो जाती है।

५. जीवन में सत्त्वगुण का विकास उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त करता है।

बौधायन सूत्र में संन्यासी के स्वरूप का विवेचन सरलता सहित प्रतिपादित किया गया है। यहाँ संन्यासी के संदर्भ में स्वरूपात्मक वर्णन करते हुए बताया गया है । जिनका विवेचन यहाँ वर्णित है।

१. सर्वप्रथम संन्यासी स्वयं को केश, दाढ़ी, मूँछ, शरीर के रोम तथा नखों को काटकर संन्यास के लिए तैयारी करे।[606]

---

603. सप्तत्या ऊर्ध्व सन्यास मुपद्शन्ति। *बौधा. ध.,* द्वितीयप्रश्न, दशम अध्याय, पृ.२८३

604. *बौधा. ध.,* तदेव

605. महदेनं गमयतीति महिमा।, *बौधा. ध.,* द्वितीयप्रश्न, दशम अध्याय, पृ.२८४,

606. केशश्मश्रुलोमनखानि वापयित्वोपकल्पयते।, *बौधा. ध.,* द्वितीयप्रश्न, दशम अध्याय, पृ.२८४

२. संन्यासी अपने महत्त्वपूर्ण पात्रों के साथ संन्यास आश्रम में प्रवेश करे। जैसे - दण्ड धारण करना , शिक्य धारण करना (रस्सी से बना हुआ भिक्षापात्र लटकाने का छींका) तथा जल छानने के लिए वस्त्र एवं कमण्डलु तथा भिक्षापात्र ग्रहण करना ।[607]

३. संन्यासी अपने साधनों द्वारा गाँव के छोर पर अथवा ग्राम की सीमा के अन्त स्थान को जाकर या जिस भवन में अग्नि का आधान किया गया हो उसमें जाकर घृत, दूध और दही तीनों के मिश्रण का भक्षण करे और उसके बाद उपवास करे अथवा जल पी सकता है। इसके सन्दर्भ में बौधायन सूत्र में भी कहा गया है - **एतत्समादाय ग्रामान्ते ग्रामसीमान्तेऽग्न्यगारे वाऽऽज्यं पयो दधीति त्रिवृत्प्राश्योपवसेदपो वा। [608]**

४. संन्यासी को सदा सावित्री की अथवा गायत्री की उपासना करनी चाहिए। जिसका विवेचन बौधायन में किया गया है - **ओं भूस्सावित्री प्रविशामि तत्सवितुर्वरेण्यम्। ओं भुवस्सावित्रीं प्रविशाम भर्गो देवस्य धीमहि। ओ एसुवस्सावित्रीं प्रविशामि धिये यो नः प्रचोदयात्।[609]**

इस प्रकार से संन्यासी को प्रणय और व्याहृति के साथ सावित्री के प्रत्येक पाद का अलग - अलग तथा प्रत्येक अर्धर्च का पृथक - पृथक तथा सम्पूर्ण का एक साथ और अलग - अलग उच्चारण करते हुए पाठ करना चाहिए। इस प्रकार संन्यासी का स्वरूप स्पष्ट होता है जिसमें उसकी जीवन शैली का साक्षात्कार होता है। आश्रम व्यवस्था में एक आश्रम से दूसरे आश्रम में प्रवेश करने से पूर्व स्वयं को तैयार करना पडता है। सभी नियमों को जानना आवश्यक होता है। वेदों में भी कहा गया है कि - एक आश्रम से दूसरे में प्रवेश ब्रह्म के साथ एक हो जाना होता है।[610]

---

607. यष्टयश्शिक्यं जलपवित्रं कमण्डलुं पात्रमिति।, *बौधा. ध.,* द्वितीयप्रश्न, दशम अध्याय, तदेव

608 *बौधा. ध.,* द्वितीयप्रश्न, दशम अध्याय, तदेव

609. *बौधा. ध.,* द्वितीयप्रश्न, दशम अध्याय, पृ.२८५

610. आश्रमादाश्रममुपनीय ब्रह्मपूतो भवीतीति विज्ञायते। *बौधा. ध.,* द्वितीयप्रश्न, दशम अध्याय, पृ.२८५

संन्यासी के साधारण कार्यावधि का वर्णन करते हुए बौधायन धर्मसूत्र में कहा गया है - जिसने एक आश्रम से दूसरे आश्रम से दूसरे आश्रम में प्रवेश किया है, हवन किया है और जितेन्द्रिय है, वह भिक्षा और बलि अर्पित करने से श्रान्त होकर स्वयं भिक्षुक अर्थात् सन्यासी बन जाता है।[611] इसके नियमों का विवेचन अधोलिखित है।

१.संन्यासी ब्रह्म के साथ सायुज्य प्राप्त करता है। इसी क्रिया को वेद में ब्रह्मान्वाधान कहते हैं।[612]

२. संन्यासी को प्रतिदिन सूर्य की उपासना करता है।

३. संन्यासी को **'ओं भूः भवः स्वः'** कहते हुए पवित्र लेकर उससे जल ग्रहण करता है।

४. साधारण छालीय वस्त्रों को धारण करता है।

५. संन्यासी को एक दण्ड अथवा तीन दण्ड धारन करना चाहिए।[613]

६. संन्यासी को भिक्षा ग्रहण करने में कम से कम समय लगाना चाहिए। संन्यासी को चाहिए कि वह गाये दुहने में जितना समय लगता है उतना ही समय में भिक्षा माँगने लगाना चाहिए।[614]

७. प्रतिदिन यज्ञ का विधान करना चाहिए।

८. यज्ञ में परमशक्ति का स्वरूप विद्यमान होता है।

९. संन्यासी की आत्मा यज्ञ शक्ति से युक्त हो जाती है।[615]

---

611. आश्रमादाश्रमं गत्वा हुतहोमो जितेन्द्रियः। भिक्षाबलिपरिश्रान्तः पश्चाद्भवति भिक्षुक इति॥ *बौधा. ध.,* द्वितीयप्रश्न, दशम अध्याय, पृ.२८६,

612. एतद्ब्रह्मान्वाधानमिति विज्ञायते॥, *बौधा. ध.,* तदेव

613. एकदण्डी त्रिदण्डी वा।, *बौधा. ध.,* द्वितीय प्रश्न, अष्टादश खण्ड, पृ. २९३

614. गोदोहनमात्रमाकाङ्क्षेत्।, *बौधा. ध.,* द्वितीय प्रश्न, अष्टादश खण्ड, पृ.२९३

इस प्रकार से संन्यासी द्वारा सभी नियमों का पालन करना अनिवार्य होता है। इन नियमों में यज्ञ का विधान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। इसका स्पष्ट वर्णन बौधायन धर्मसूत्र में किया गया है - यज्ञ आत्मयज्ञ है, यह आत्मा में निहित है, आत्मा में प्रतिष्ठित है और आत्मा को कल्याण देने वाला है इससे वेद के ज्ञान का साक्षात्कार होता है।[616] यज्ञ का आयोजन करने के बाद संन्यासी सभी प्राणियों को भोजन अथवा दाना, जल आदि देकर अपना नित्यकर्म पूरा करता है। अन्त में स्वयं अल्प भोजन ग्रहण करता है। यह भोजन संन्यासी के शरीर में औषधी का काम करता है। अल्प भोजन के द्वारा उसका जीवन चलता है और वह साधना में पुनः लीन हो जाता है। ऐसा कहा जाता है कि यह अल्प भोजन संन्यासी के लिए आठ ग्रास मात्र होता है। धर्मसूत्र में भी कहा गया है-

"अष्टौ ग्रासा मुनेर्भक्ष्याः षोडशाऽरण्यवसिनः।

द्वात्रिंशतं गृहस्थस्याऽपरिमितं ब्रह्मचारिणः"॥

संन्यासी का भोजन आठ ग्रास, गृहस्थ का भोजन बत्तीस ग्रास का होता है, किन्तु ब्रह्मचारी का भोजन अपरिमित होता है।[617] इस भोजन के विषय में धर्मसूत्रों में पदे पदे वर्णन किया गया है। इस प्रकार संन्यासी के दिनचर्या का वर्णन किया गया है जिसका विवेचन यहाँ वर्णित है ।

१. प्रतिदिन निश्चित आसन ग्रहण करे।

२. सुबह, दोपहर और शाम को स्नान करे।

---

615. आत्मन्येव जुहोति। *बौधा. ध.,* द्वितीय प्रश्न, अष्टादश खण्ड, पृ.२९५,

616. स एष आत्मनिष्ठ आत्मानं क्षेमं नय तीति विज्ञायते।, *बौधा. ध.,* द्वितीय प्रश्न, अष्टादश खण्ड, पृ.२९६

617. *बौधा. ध.,* द्वितीय प्रश्न, अष्टादश खण्ड, पृ.२९५

३. वाणी में सदैव संयम रखे ।

४.प्रतिदिन साधना में लीन रहे ।

५ अल्प भोजन ग्रहण करे ।

६ जौ आदि से बना भोजन ग्रहण करे ।

७ दूध और दही आदि का सेवन करे ।

इस प्रकार से सभी नियमों का सावधानी पूर्वक पालन करना संन्यासी के लिए अनिवार्य माना गया है। बौधायन धर्मसूत्र में संन्यासी के नियमों का वर्णन करते हुए अधोलिखित महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं पर प्रकाश डाला गया है।

१. संन्यासी को प्रतिदिन सायंकाल तथा प्रातः काल अग्निहोत्र के मन्त्रों का जप करना चाहिए।[618]

२. संन्यासी को कदापि किसी दूसरे की शरण में नहीं रहना चाहिए। वह कदापि अग्नि न रखे और गृहहीन होवे तथा कुछ ग्रहण न करें।[619]

३. संन्यासी भिक्षा के लिए गाँव में प्रवेश करना चाहिए।[620]

४. संन्यासी को सदैव वेद का स्वाध्याय करना चाहिए।

६. संन्यासी को वेदपाठ करते समय मौन रहना चाहिए।[621]

७. संन्यासी को मानन चाहिए कि ज्ञान का वृक्ष है तथा उसका मूल प्रणव है। [622]

---

618. सायं प्रातरग्निहोत्रमन्त्रान् जपेत्।, *बौधा. ध.,* द्वितीय प्रश्न, अष्टादश खण्ड, पृ.२९९,

619. अनग्निरनिकेतस्स्यादशर्माऽशरणो मुनिः।, *बौधा. ध.,* तदेव,

620. भैक्षार्थी ग्राममन्विच्छेत्।, *बौधा. ध.,* तदेव, पृ.३००

621. स्वाध्याये वाचमुत्सृजदिति।, *बौधा. ध.,* तदेव,

८. संन्यासी को यह मानना चाहिए कि वेद का आत्मा प्रणव है।[623]

९, संन्यासी को सदैव प्रणव की उपासना करनी चाहिए ।

१०. संन्यासी को सदैव साधनागत विषयों से युक्त होना चाहिए ।[624]

इस प्रकार से संन्यास आश्रम नियमों का संगम है। नियमों का पालन करना इसमें अनिवार्य होता है। संन्यासी नियमों में रहते हुए जीवन में आनन्द की अनुभूति करता है। वह सदैव अपने जीवनलक्ष्य को प्राप्त करने के लिए तत्पर होता है।

५.११ संन्यास आश्रम की वर्तमान प्रासंगिकता :-

आज के समय में संन्यास आश्रम का बड़ा महत्त्व है। मनुष्य अपनी जीवन में चारों ओर से भोगविलासित से घिरा हुआ है। वह दिन प्रतिदिन अपना नैतिक कर्तव्य भूलकर असामाजिक कार्यों में अपना समय व्यतीत कर रहा है। भारत की ऋषि परम्परा में संन्यासीयों की महिमा सर्वत्र वर्णित है।

अनादि काल से से लेकर अद्यावधि पर्यन्त भारतीय संस्कृति अबाध गति से समाज को प्रेरणा प्रदान अकरते हुए नूतन दिशाओं का मार्ग प्रशस्त कर रही है। भारतीय संस्कृति में वर्णित कल्पसाहित्य के धर्मशास्त्र का मानव जीवन एवं समाज में महत्त्वपूर्ण योगदान माना गया है। समाज में धर्म का पालन होने से सर्वत्र शान्ति बनी रहती है। संन्यासी द्वारा अपनाए जाने वाले नियमों का पालन करना कठिन होता है। परन्तु कतिपय नियमों को मनुष्य स्वजीवन में सरलता से ग्रहण कर सकता है। मनुष्य को सदैव संन्यास प्रवृत्ति को जीवन में धारण करना चाहिए। मनुष्य जब सभी प्रकार के सामाजिक एवं पारिवारिक दायित्त्वों से मुक्त हो जाता है उस समय मनुष्य को

---

622. वेदो विख्षः तस्य प्रणवः।, *बौधा. ध.,* तदेव, पृ.३०१

623. प्रणवात्मको वेदः।, *बौधा. ध.,* तदेव

624. प्रणवो ब्रह्म प्रणवं ध्यायेत्।, *बौधा. ध.,* पृ., ३०२

गृहत्याग करके भौतिक साधनों को छोड़ कर जीवन यापन करना चाहिए। अतः उसको अधोलिखित नियमों का जीवन में पालन करना चाहिए।

१. प्रतिदिन संध्यावंदन करना चाहिए।

२. प्रतिदिन जप विधान करना चाहिए।

३. प्रत्येक कार्य से स्वयं के मुक्त रखना चाहिए।

४. वेदों का स्वाध्याय करना चाहिए।

५. प्रतिदिन प्रणव का ध्यान करना चाहिए।

इस प्रकार से मनुष्य संन्यास के साधारण नियमों को जीवन में धारण करके सुखपूर्वक जीवन यापन कर सकता है। प्राचीनोक्त संन्यास आश्रम की जीवन पद्धति वर्तमान में अपने महत्त्व को स्पष्ट रूप से दर्शाती है। आधुनिक समय में संन्यास आश्रम में वर्णित लोकाचार की अत्यधिक महत्ता है। समय के प्रभाव से सभी नियम आज का मानव भूल गया है। जबकि इनके पालन करने से जीवन में आनन्द की प्राप्ति होती है। जैसे :-

१. दीक्षा का जीवन में पालन करना।

२. ब्रह्मचर्य का जीवन में पालन करना।

३. धर्म और कर्तव्य का जीवन में पालन करना।

४. मोक्षागामी विषयों का नित्य चिन्तन करना।

५. सामाजिक उपभोगों का जीवन में त्याग करना।

६. जीवन मूल्यों को जीवन में धारण करना।

७. लोकाचार एवं व्यवहार के नियमों का जीवन में पालन करना।

८. धर्मग्रन्थों का स्वाध्याय करके समाज में नूतन दिशा प्रदान करना।

इस प्रकार से वर्तमान समय में संन्यास आश्रम में वर्णित लोकाचारीय नियमों से हमें प्रेरणा प्राप्त होती है।

५.१२ धर्मसूत्रों में वर्णित लोकाचार में साम्य तथा वैषम्य का विवेचन :-

धर्मसूत्रों में वर्णित लोकाचार मानव जीवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। भारतीय संस्कृति के अनुसार मनुष्य को सौ वर्ष जीवन जीने की प्रेरणा प्रदान की गई है। जिसका विवेचन इस प्रकार है।[625]

आश्रमविभाजन	आयु विभाजन	प्रमुख कार्य
ब्रह्मचर्य आश्रम	1-25	ब्रह्मचर्य का पालन, अध्ययन अध्यापन करना, कोपीन आदि का पालन (लंगोट)
गृहस्थ आश्रम	26-50	सन्तानोत्पति कर्म एवं पारिवारिक दायित्त्वों का निर्वहन करना
वानप्रस्थ आश्रम	50-75	वानगमनसाधना तप एवं अग्निहोत्र , करना
संन्यास आश्रम	76-100	संन्यास में परम तत्त्व की साधना करना

इस प्रकार से आयु से साथ साथ लोकाचार के नियमों में भी परिवर्तन होता है। प्रत्येक आश्रम में लोकाचारीय नियम कतिपय भिन्नता को प्राप्त करते है। यद्यपि

---

625 हारित स्मृति , ३/१

इन नियमों में किसी प्रकार का वैषम्य नहीं है। तथापि आश्रम विशेष के कारण कतिपय भेदरूपता परिलक्षित होती है। जैसे ब्रह्मचर्य आश्रम में स्वाध्याय करना अत्यधिक अनिवार्य था जबकि संन्यास आश्रम में संन्यासी स्वाध्याय की अपेक्षा आत्मचिन्तन में अधिक समय व्यतीत करता है। इसी प्रकार से यज्ञविधान सभी आश्रमों में लोकाचार के नियमों का अनिवार्य भाग है। उपनयन संस्कार सभी आश्रमों में पालित किया जाता था। अतिथियों का स्वागत करना सभी आश्रमों में लोकाचार का प्रमुख नियम था।[626] परन्तु संन्यासी अपने मतानुसार अथवा स्वेच्छा से इस नियम का पालन करता था। इस प्रकार से लोकाचार के पालन में आश्रम व्यवस्था में कोई स्पष्ट भेद उपलब्ध नहीं होता है। सभी लोकाचारी नियम एकसमान हैं, कुछ कठिन हैं तथा कुछ अत्यन्त सरल है।

धर्मसूत्रों में वर्णित लोकाचार में वैषम्य का वर्णन यद्यपि स्पष्ट रूप से परिलक्षित नहीं होता है. तथापि कतिपय सामान्य वैषम्यगत बिन्दुओं का विवेचन उपलब्ध होता है। जिसका वर्णन इस प्रकार है ।

1. वस्त्र विधान में आश्रम विशेष के कारण सामान्य भेद का होना ।

2. यज्ञविधान में सामान्य भेद का होना ।

3. मन्त्रोचारण का पालन करना अथना आत्मचिन्तन करना ।

4. आश्रमों में अतिथियों का स्वागत करना अथवा संन्यास आश्रम में स्वेच्छा से करना ।

5. स्वाध्याय का ब्रह्मचर्य आश्रम में अनिवार्य और संन्यास में स्वेच्छा पर आधारित होना ।

---

626. *धर्म. आ. सं.*,, पृ. सं. , ५८ - ५९

इस प्रकार से आश्रमों में प्रतिपादित लोकाचार में किसी प्रकार विशेष भेद अथवा वैषम्य परिलक्षित नहीं होता है। सामान्य उपलब्ध भेदों में भी एकरूपता एवं समरूपता ही दिखाई पडती है। अतः लोकाचार का पालन सभी आश्रमों में किया गया है।

इस प्रकार से स्वतः सिद्ध होता है कि ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थ आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम और संन्यास आश्रम में लोकाचार का सर्वविधता के साथ पालन किया गया है। लोकाचार के प्रमुख नियमों का वर्णन आश्रम व्यवस्था के अनुसार विवेचन करना यहाँ अधिगम के लिए अनिवार्य है। यद्यपि इन नियमों में कोई विशेष मतभेद या वैषम्यता नहीं है, तथापि इनका सामान्य साम्य और वैषम्यगत विश्लेषणात्मक वर्णन करना अति आवश्यक है।[627]

[627]. पूर्व अध्यायों पर आधारित

प्रमुख नियम	ब्रह्मचर्य आश्रम	गृहस्थ आश्रम	वानप्रस्थ आश्रम	संन्यास आश्रम
१.	उपनयन संस्कार का पालन करना	उपनयन का प्रयोग करना	उपनयन का पालन करना	उपनयन का पालन करना
२.	ब्रह्मचर्य का पालन	समयानुसार ब्रह्मचर्य का पालन करना	ब्रह्मचर्य का पूर्णतः पालन	पूर्णतः ब्रह्मचर्य का पालन
३.	स्वाध्याय करना	यथा समय स्वाध्याय करना	यथा समय एवं स्वेच्छानुसार स्वाध्याय करना	आत्मचिन्तन करना
४.	सात्त्विक भोजन ग्रहण करना	सात्त्विक भोजन पर बल प्रदान	सात्त्विक भोजन पर बल प्रदान करना	सात्त्विक फलाहार पर बल प्रदान करना
५.	मादक पदार्थों का निषेध	मादक पदार्थों का निषेध	मादक पदार्थों का निषेध	मादक पदार्थों पूर्णतः निषेध
६.	यज्ञों का पालन करना	यज्ञों का पालन अनिवार्य करना	यज्ञों का पालन	यज्ञों का पालन

इस प्रकार से धर्मसूत्रों में प्रतिपादित लोकाचार के नियमों का आश्रम व्यवस्था में सामान्यतः अत्यधिक मतभेद परिलक्षित नहीं होता है। यद्यपि कतिपय कार्यों में बदलाव है तथापि उनमें साम्यता ही दिखाई पडती है। जैसे - यज्ञ का पालन करना सभी आश्रमों में अनिवार्य है। किन्तु संन्यास आश्रम में संन्यासी की स्वेछच्छा पर

आधारित है। इस प्रकार से आश्रम व्यवस्था के लोकाचार नियमों में वैषम्यता नहीं है, बल्कि सभी नियम एक दूसरे के संयुक्त एवं प्रेरणा पर आधारित है।

अन्त में निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि धर्मसूत्रों में वर्णित लोकाचार में प्रायः कोई भेद नहीं है। आश्रम विशेष के कारण इनमें भिन्नता प्रतीत होती है। इनमें समानता अथवा साम्यता का होना अधिक स्पष्ट होता है। जैसे - यज्ञ का सम्पादन करना। प्रायः सभी आश्रमों में यज्ञ का सम्पादन करना अनिवार्य बताया गया है।

यज्ञ सभी आश्रमों में ज्ञानज्योति का प्रकाशन करते हुए आध्यात्मिक साधना पथ पर अग्रसरित करता है। इसी प्रकार से ब्रह्मचर्य का पालन करना, दैनिक दिनचर्या का श्रेष्ठ होना, अग्निहोत्र के साथ मन्त्रपाठ करना अथवा मन्त्रोचारण द्वारा साधना तप या जपविधान करना। इस प्रकार से धर्मसूत्रों में वर्णित लोकाचार में आश्रम के अनुसार कतिपय भेद परिलक्षित होता है। परन्तु इनकी मान्यताओं एवं सिद्धान्तों में कोई विशेष मतभेद अथवा वैषम्यता नहीं है। सभी धर्मसूत्र धर्म के आधारभूत सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते है। सभी धर्मसूत्रों की वर्णन शैली में जनसमाज को केन्द्रित किया गया है। अतः प्रत्येक जनसमाज एवं मनुष्य को धर्मसूत्रों के नियमों का पालन करना चाहिए।

॥ इति पंचम - अध्याय ॥

उपसंहार

उपसंहार

वैदिक साहित्य के अन्तिम भाग का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ मुख्यतः सूत्रात्मक शैली का प्रतिपादन करते हैं। इसमें मुख्यतः उपनिषदों का विशेष महत्त्व है। इनमें वर्णित सूत्रात्मक पंक्तियाँ ज्ञान के बीजरूपों को अंकुरित करते हैं। इनका मनन और चिन्तन मानव जीवन को प्रेरणा प्रदान करता है। वैदिक साहित्य के स्वरूप को समझने हेतु संहिता, ब्राह्मण आरण्यक और उपनिषदों का अध्ययन करना अनिवार्य है। ज्ञान एवं विषय की दृष्टि से मन्त्रद्रष्टा ऋषियों द्वारा इनका विभाजन किया गया है। इसको आत्मसात् करने के लिए सर्वप्रथम वेदांग साहित्य का अध्ययन करना पडता है। वेदांग साहित्य में शिक्षा, व्याकरण, छन्द, कल्प, ज्योतिष और निरुक्त का अध्ययन किया जाता है। मानव जीवन में धर्म के महत्त्व का प्रतिपादन करने वाले सूत्रशास्त्र कल्पसाहित्य के नाम से प्रचलित है। इनमें वर्णित विषय मनुष्य के जीवन एवं समाज को प्रत्यक्ष प्रभावित करते है। प्राचीन संस्कृति में ऋषियों द्वारा कल्पशास्त्रीय धर्मशास्त्र के स्वरूप को सुसज्जित एवं ज्ञानमणिकों द्वारा सिंचित किया गया है। इनमें ऋषियों द्वारा यज्ञकर्म को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बताया गया है। कल्प का सामान्य अर्थ होता है यज्ञ के स्वरूप का प्रतिपादन करने वाले शास्त्र। मुख्यतः कल्पशास्त्र साहित्य को चार प्रमुख भागों में विभाजित किया गया है। जिनमें श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र तथा शुल्बसूत्र के नाम से जाना जाता है। नाम के आधार पर इनमें विविध विषयों का प्रतिपादन किया गया है। इनमें विषयानुसार वर्णन यहाँ वर्णित है।

१. श्रौतसूत्र - यज्ञ विधान का विवेचन।

२. गृह्यसूत्र - संस्कारों एवं याज्ञिक क्रियाओं का विवेचन।

३. धर्मसूत्र - आश्रम व्यवस्था, वर्ण व्यवस्था एवं लोकाचार के नियमों का वर्णन।

४. शुल्बसूत्र - यज्ञ वेदी विधि आदि का वर्णन।

धर्मसूत्रों में वर्णित आश्रम व्यवस्था में मुख्यतः चार प्रकार के आश्रम माने गए हैं। जिनमें मानव जीवन को आयु के अनुसार चार भागों में विभाजित किया गया है। जिनका वर्णन इस प्रकार है।

- **ब्रह्मचर्य आश्रम :- १ से २५ वर्ष तक का जीवन।**
- **गृहस्थ आश्रम :- २६ से ५० वर्ष तक का जीवन।**
- **वानप्रस्थ आश्रम :- ५१ से ७५ वर्ष तक का जीवन।**
- **संन्यास आश्रम :- ७६ से १०० वर्ष तक का जीवन।**

इन सभी आश्रमों में सामाजिक एवं धार्मिक तथा नैतिक मूल्यों का सर्वत्र वर्णन किया गया है। मनुष्य के जीवन में धर्म का महत्त्वपूर्ण योगदान माना गया है। अपने धर्म का निष्ठापूर्वक पालन करने वाला मनुष्य जीवन में मोक्ष को प्राप्त करता है।

धर्म का पालन करना प्रत्येक मनुष्य का नैतिक दायित्व होता है। धर्म का पालन करने वाला व्यक्ति स्वस्वभाव से सात्त्विक वृत्ति को धारण करता है और जीवन के सर्वविध कार्यों का सरलता के साथ संचालन करता है। धर्मसूत्रों में वर्णित आश्रम व्यवस्था में धर्मशास्त्रीय नियमों का पालन करना अनिवार्य था। इनके पालन करने से ब्रह्मचारी, गृहस्थ और वानप्रस्थी तथा संन्यासी मोक्षगामी मार्ग को स्वतः प्राप्त करता है। धर्मशास्त्रों में धर्म के पालन करने के संदर्भ में अनेक संदर्भों का सरलता के साथ वर्णन किया गया है। इसमें कतिपय नियमों में सामान्यता है तथा कतिपय नियमों आश्रम विशेष में अपनाए जाते थे। जैसे यज्ञ विधान का धार्मिक कर्म सभी आश्रमों में अनिवार्य माना गया है।

इसका वर्णन सभी आश्रमों में वर्णित है। यज्ञ के सम्पादन करने से मनुष्य के जीवन में आध्यात्मिक शान्ति के साथ सात्त्विकता और पवित्रता का आगमन होता है।

भारतीय संस्कृति में यज्ञ को धर्म का मूल आधार माना गया है। धर्म का प्रतिपादन करने वाले धर्मशास्त्र ग्रन्थ मानव को जीवन में प्रेरणा प्रदान करते हैं। धर्मशास्त्रों में वर्णित सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं अध्यात्मिक विषय मनुष्य के जीवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका वहन करते हैं। धर्मशास्त्रीय ज्ञान मनुष्य के जीवन में परिवर्तन का कार्य करता है। धर्म का पालन करने वाला व्यक्ति समाज को नूतन दिशा प्रदान करता है। वह समाज की गतिविधियों में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। लोकाचार को समाज का मूल सिद्धान्त माना गया है। इसके पालन करने से समाज को नूतन प्रेरणा प्राप्त होती है। इसको जीवन का केन्द्र बिन्दु मानकर जीवन में धारण करना चाहिए।

लोकाचार समाज का केन्द्रबिन्दु है। समाज की समस्त बुराईयों को समाप्त करने यह महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। वैदिक साहित्य के प्रमुख भाग कल्पसाहित्य में वर्णित धर्मसूत्रों के द्वारा लोकाचार का प्रतिपादन किया गया है। यह लोकाचार समाज के लिए उपयोगी है। वर्तमान समय में लोकाचार का पालन करना प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है। यह समाज का अभिन्न अंग है। इसको समाज से अलग करना, समाज का पतन करने के समान है। लोकाचार का बीजारोपण वैदिक साहित्य में सर्वत्र परिलक्षित होता है। इसको वैदिकग्रन्थों में लोकाचार, नीतिशास्त्र एवं व्यवहारशास्त्र के नाम से जाना गया है। मनुष्य की मानसिक क्रिया द्वारा किया जाने वाला व्यवहार ही लोकाचार है। यह सदैव श्रेष्ठ कार्यों की प्रेरणा प्रदान करते हुए वर्जित कार्यों से मनुष्य को बचाता है। इस लिए वैदिक ऋषि हमें लोकाचारयुक्त जीवन जीने की प्रेरणा देता है। वह कहता है कि –

- सदैव सत्य बोलना चाहिए ।
- गुरुजनों का सत्कार करना चाहिए ।
- माता-पिता और गुरु की आज्ञा का पालन करना चाहिए ।

- लोकाचार मनुष्य की जीवन का परम धर्म है।
- लोकाचार के द्वारा मनुष्य देवत्त्व को प्राप्त करता है।
- धर्मसूत्रों में सत्य के पालन करने वाले को देवता कहा गया है।
- लोकाचार के द्वारा हमें सत्पुरुषों का संग करना चाहिए ।
- विद्या के प्रचार प्रचार करने में सहयोग प्रदान करना चाहिए ।
- ब्रह्माण्ड को लोकाचार की भावना से युक्त होकर एक मानना चाहिए ।
- लोकाचारी मनुष्य द्वारा गुणों को ग्रहण करना चाहिए ।
- उपनिषदों एवं धर्मशास्त्रों का स्वाध्याय करना चाहिए ।
- सारे जगत के प्राणी मात्र में नित्य विभु का साक्षात्कार करना चाहिए ।
- मनुष्य को गुरुसेवा एवं शास्त्रसेवा के लिए सदैव तत्त्पर रहना चाहिए ।
- ऋषि वाक्य मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यो देवो भव आदि में श्रद्धा होनी चाहिए।

इस प्रकार से लोकाचार के सभी बिन्दु हमारे जीवन में अमृत के समान कार्य करता है। अतः धर्मसूत्रों का अध्ययन करते हुए अपने जीवन को सरलता प्रदान करनी चाहिए ।

यदि वर्तमान परिप्रेक्ष्य में विस्तार में विचार किया जाए तो समाज का स्वरूप पूरी तरह से बदल चूका है। इसमें सामान्य कार्यों की अपेक्षा अनेक प्रकार की सामाजिक बुराईयों अथवा विषमताओं ने स्थान ग्रहण कर लिया है। ये विषमताएँ समाज में अपनी गहरी जडे जमा चुकी हैं। जिसके कारण दिन - प्रतिदिन समाज पतन की ओर अग्रसर होता जा रहा है।

आज न केवल भारत अपितु सम्पूर्ण विश्व में लोकाचार के प्रति जागरूकता अभियान चलाने की आवश्यकता है। समाज में भारतीय संस्कारों का पतन पूरी तरह साफ दिखाई दे रहा है।

समाज एवं परिवारों ने नैतिक मूल्यों एवं संस्कारों को अन्तिम रूप प्रदान कर दिया है। जिसके कारण असामाजिक तत्त्वों द्वारा असमाजिक बुराईयों का पदार्पण समाज में हो गया है। जिसमें दूर - दूर तक लोकाचार के दर्शन नहीं होते है।

शिक्षाजगत में केवल पैसे और रोजगार की ही परस्पर स्पर्धा हो रही है। बालक ने माँ को अपना प्रथम गुरु मानने से इन्कार कर दिया है। वह अब बड़ा हो गया है। उसके लिए हमारे धर्मग्रन्थों और पूर्वजों के संस्कारों का कोई मूल्य नहीं है।

समाजशात्रियों का चिन्तन अल्पज्ञान तक सीमित हो गया है। परिवार के पास अपने बच्चों के लिए समय नहीं है। वे समय के साथ जूआ, असत्य, नशा, लूट, शराब, मोबाईल, सिनेमा आदि का जीवन का सहयोगी मानने लगे है।

मानवशास्त्र में संस्कार, संस्कृत और संस्कृति का पतन स्पष्ट रूप से दिखाई दे रहा है। धर्म के नियमों का पालन करने वाले धर्म के नाम पर व्यापार कर रहे हैं। भारतीय धर्मग्रन्थों का सहारा लेकर समाज को प्रेरणा देने की बजाय लाखों पैसों का व्यापार कर रहे हैं। प्रकृति का दम दिन प्रतिदिन घुट रहा है। पर्यावरण को पूरी तरह से गन्दा कर दिया गया है। हर जगह मनुष्य अपनी भोग विलासिता को देखना चाहता है।

इन सभी समास्याओं का समाधान और रामबाण केवल और केवल धर्मसूत्रों में प्रतिपादित लोकाचार है। धर्मसूत्रों में वर्णित लोकाचार के नियमों के पालन से समाज में निश्चित रूप परिवर्तन होगा। जिसका परिचय इस प्रकार है। ब्रह्मचर्य आश्रम में वर्णित लोकाचार समाज को एक नूतन दिशा प्रदान करने में मुख्य भूमिका निभाता है। जैसे :- ब्रह्मचर्य के पालन से युवाओं की चिन्तन शैली में परिवर्तन होगा और समाज में अत्याचार और व्याभिचार की घटनाओं पर अंकुश लग जाएगा।

समय से पहले युवा वृद्धता को प्राप्त नहीं करेगा अपितु अपने जीवन के सभी दायित्त्वों का सरलता के साथ निर्वहन कर सकेगा। युवा की शक्ति असामाजिक कार्यों से हटकर राष्ट्रनिर्माण एवं समाज के सुदृढ बनाने का काम करेगी।

इसके लिए शोधप्रबन्ध के द्वितीय अध्याय में **"ब्रह्मचर्य आश्रम में लोकाचार"** के स्वरूप को विस्तारपूर्वक व्याख्यायित किया गया है। जिसमें सर्वप्रथम ब्रह्मचर्य आश्रम का प्रमुख आधार को स्पष्ट विवेचन है। जिसमें वर्ण व्यवस्था, आचार्य द्वारा वर्ण निर्धारण, ब्रह्मचार्याश्रम का ब्रह्मचारी, उपनयन संस्कार, आयु विमर्श तथा ब्रह्मचारी का स्वरूप सर्व विध विवेचन किया है। ब्रह्मचारी के सभी बिन्दुओं पर सारगर्भित वर्णन किया गया है। उसके द्वारा दण्ड रखना, कमण्डल, केश मेखला, यज्ञोपवीत धारण करना तथा उसके चरित्र एवं व्यक्तित्व विकास का वर्णन किया गया है। इसी क्रम में ब्रह्मचर्य आश्रम का शैक्षणिक व्यवस्थागत आचार, ब्रह्मचर्य के आचार तत्त्व, निषेध आचार के प्रमुख नियम, तथा ब्रह्मचारी के निषधकार्यों में अपशब्द वर्जन, जूआ मादक पदार्थों का निषेधाचार वर्जित, परिधान सौन्दर्य प्रसाधनों का प्रयोग निषध, वाहन निषध तथा मार्ग निषध दर्शन एवं स्नान भक्षय तथा अभक्षय पदार्थों का धर्मसूत्रों के आधार पर वर्णन किया गया है। इस प्रकार के सभी नियम एवं सूत्र आज के युवा को मौलिक चिन्तन प्रदान करते है। यह ब्रह्मचर्य का लोकाचार युवाशक्ति को जागरूक करते हुए नूतन क्रान्ति लाने में सहायक है। वस्तुतः समय के साथ साथ बहुत परिवर्तन आ चुका है आज का छात्र सामान्यतः न तो यज्ञोपवीत धारण करता है और ना ही भिक्षा, कमण्डल, दण्ड आदि नियमों का पालन करता है फिर भी ये सब नियम धर्मसूत्र काल में उसे अनुशासित करते थे। वर्तमान में विद्यार्थी को अनुशासित रहने के लिए धर्मसूत्रीय नियमों के पुनर्पाठ की आवश्यकता है। इसका स्वाध्याय एवं मनन हमें करना चाहिए। इस प्रकार से धर्मसूत्रीय ब्रह्मचर्य अवस्था का लोकाचार वर्तमान समय में अपनी प्रासंगिकत्व को सिद्ध करता है।

इसी प्रकार यदि वर्तमान समय में गृहस्थ जीवन पर जब विचार किया जाता है तो सर्वत्र समस्यायों का अंबार लगा हुआ है। पति और पत्नी में प्रेम सौहार्द समाप्त हो गया है। परिवार में सर्वत्र हिंसक घटनाओं का बोलबाला हो गया है। परिवार का विभाजन अनेक भागों में विभाजित हो गया है। सारा परिवार संस्कारविहिन हो गया है।

परिवार का वातावारण बच्चों को असामाजिक कार्यों की प्रेरणा दे रहा है। माता - पिता के पास बच्चों के लिए समय नहीं है। गृहस्थ जीवन में यज्ञ का होना, उपनयन संस्कार का होना और धार्मिक कार्यों का आयोजन आदि पूर्णतः समाप्त हो गए है। नृत्यकला ने अपना स्वरूप समाज बदलकर समाज और परिवार तथा गृहस्थ जीवन को बदल दिया है। इस प्रकार के सभी चिन्तन को शोधप्रबन्ध के तृतीय अध्याय में **"गृहस्थ आश्रम में लोकाचार"** का विवेचन करते हुए लिखा गया है। वर्तमान दशा को ठीक करने में यह लोकाचार अपने प्रभाव को सिद्ध करता है। यहाँ पर गृहस्थ आश्रम में वर्णित वैवाहिक लोकाचार का स्वरूप उसके प्रकार और अष्टविध वैवाहिक लोकाचार का वर्णन तथा वैवाहिक लोकाचार के महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं का विश्लेषणात्मक वर्णन किया गया है। विवाह के आठ प्रकारों में केवल प्रथम चार (ब्रह्म, देव, आर्ष तथा प्रजापत्य) को श्रेष्ठ तथा अन्तिम चार (असुर, गन्धर्व, राक्षस तथा पैशाच) प्रकार के विवाहों को निन्दित माना है। यहाँ श्रेष्ठता के आधार पर सबसे श्रेष्ठ ब्राह्म विवाह है। बाद वाले पहले वाले से निम्नस्तर के माने गये है। सबसे निन्दित विवाह पैशाच को माना गया है। प्रथम चार प्रकार के विवाह ब्राह्मण के लिए श्रेष्ठ माने गए है तथा अन्तिम चार प्रकार के विवाहों को दूसरे वर्ण वालों के लिए अनुकूल माना है। बौधायन के अनुसार क्षत्रियों के लिए आसुर और राक्षस तथा वैश्य और शूद्रों के लिए क्रमशः गान्धर्व एवं पैशाच विवाह वैध माने जाते थे। वस्तुतः धर्मसूत्रकारों का धर्म विरूद्ध विवाहों को मान्यता देने का प्रमुख कारण स्त्री पुरुष को सामाजिक मान्यता देना रहा होगा। जिससे वे भी उचित रूप से अपना जीवन यापन कर सकें।

इसके विवाह के सभी उत्तरदायित्व का वर्णन करते हुए पंचमहायज्ञीय लोकाचार की विस्तारपूर्वक व्याख्या की गई है। इसी क्रम में पारिवारिक आचार की रूपरेखा में माता, पिता, पुत्र और पुत्री आदि के आचार का विवेचन किया गया है। इनका स्वाध्याय सभी के लिए अनिवार्य है। इनका मनन और चिन्तन करते हुए इनको जीवन में धारण करना चाहिए। निश्चय ही समाज को नूतन दिशा प्रदान में गृहस्थ आश्रम में वर्णित लोकाचार अपने महत्त्व को सिद्ध करता है।

समाज में मनुष्य की आयु समय के अनुसार कम हो रही है। वह समय से पहले सभी कार्यों को जीवन का आवश्यक अंग मानकर उनका प्रयोग करने लगा है। शिक्षा ग्रहण करने की बजाय असामाजिक कार्यों में अपना समय व्यतीत कर रहा है। गृहस्थ व्यक्ति अपना समय परिवार को न देकर असामाजिक कार्यों में दे रहा है। दिन प्रतिदिन समाचार पत्रों में असामाजिक घटनाओं का अम्बार लगा हुआ है।

इसको सही करने में लोकाचार के नियमों का पालन करना ही हमारे लिए अंतिम उपाय है। समाज का प्रत्येक अंग संस्कृति से जुड़ा हुआ है, परन्तु संस्कृति का पतन हो रहा है।

संस्कृत ज्ञानपरम्परा में समाज के लोगों का दायित्त्व समाप्त हो गया है। इस परम्परा को विदेशों में सहर्ष स्वीकार कर रहे हैं जबकि भारत में लोगों की किसी प्रकार की रूचि नहीं है। यह भारत के पतन का कारण है। इसके संरक्षण में वैदिक ऋषियों द्वारा दिया गया संदेश हमें प्रेरणा प्रदान करता है।

धर्मसूत्रों में वर्णित वानप्रस्थीय व्यवस्था इस समस्या का समाधान है। समाज से जुडकर उसके अंगों का संरक्षण करना धर्मसूत्रों में वर्णित है। वानप्रस्थी के नियमों में समाज के संरक्षण एवं लोकव्यवहार की मान्यता का संरक्षण स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। इसके स्पष्टीकरण को शोधप्रबन्ध के चतुर्थ अध्याय में **"वानप्रस्थ आश्रम में लोकाचार"** लोकाचार में स्वाध्याय करते हुए आत्महृदयस्थ किया जा सकता है। इसमें

लोकाचार का समय, उसके अधिकारी, प्रमुख कर्तव्य, वानप्रस्थ आश्रम के वर्जित कार्य, वानप्रस्थ के भेद, सपत्नीक के भेद, अपत्नीक के भेद, अपचमानक आदि का विस्तार से वर्णन किया गया है। अन्त में बौधायनसूत्र के अनुसार वानप्रस्थी के भेदों का विश्लेषणात्मक विवेचन तथा वर्तमान में वानप्रस्थ आश्रम की प्रासंगिकता का उल्लेख प्रतिपादित है। यह अपने मौलिक चिन्तन के स्वरूप को सिद्ध करता है। वस्तुतः वानप्रस्थ आश्रम में जाना वन संरक्षण में लोक की भूमिका को दर्शाता है। मनुष्य अपने निवास स्थान को साफ सुथरा रखता है और यदि उसका घर वन हो तो निश्चय ही प्रकृति के प्रति उसका स्नेह दृढ़ होता है। वर्तमान में यदि धर्मसूत्र वर्णित वानप्रस्थ के लोकाचार का पालन होता है तो पर्यावरण प्रदुषण, जनसंख्या नियन्त्रण, सुखा ग्रस्त, वृष्टि का अभाव, भूमि कटाव आदि अनेक भयावह समस्याओं का निदान हो जाएगा। इस प्रकार वानप्रस्थी आने वाली पीढ़ी के लिए स्वच्छ वातावरण प्रदान करता है।

वानप्रस्थ में त्याग की भावना विकास करती है। वर्तमान में यदि जनमानस वानप्रस्थ लोकाचार अपनाता है तो लोक में असंतोष, लोभ, लालच, मानसिक तनाव, पारिवारिक कलह आदि से मुक्त हो सकता है।

इसी प्रकार से मनुष्य जीवन के अन्तिम आश्रम संन्यास आश्रम के आचारों को पंचम अध्याय में कहा गया है। वर्तमान समय में मनुष्य यहाँ तक पहुँचने में असमर्थ प्रतीत हो रहा है। समय से पहले वह अपनी जीवनलीला समाप्त कर लेता है। उसकी आयु क्षीण हो चूकी है। खानपान बदल चूका है, वह अपने स्वास्थ्य के प्रति जागरूक नहीं है। आत्मचिन्तन करना, साधनामय जीवन जीना आदि संन्यासी के प्रमुख आचार हैं। जिनका वर्णन शोधप्रबन्ध के पंचम अध्याय **"संन्यास आश्रम में लोकाचार"** में वर्णन करते हुए संन्यास आश्रम का स्वरूप, संन्यास आश्रम के अधिकारी (वर्ण), संन्यास ग्रहण की विधि एवं लोकाचार, संन्यास आश्रम के प्रमुख नियम एवं लोकाचार का विवेचन किया गया है।

जिसमें केश विधान, भोजन ग्रहण का विधान, यज्ञ का विधान, स्नान का विधान, कमण्डल एवं भिक्षापात्र धारण की विधि, आचमन एवं प्राणायाम का विधान, तर्पण की विधि, सूर्य उपासना तथा सावित्री उपासना का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। इसी प्रकार से वर्णित संन्यास आश्रम में दीक्षा विवेचन एवं लोकाचार तथा पञ्च महायज्ञों का विधान एवं लोकाचार, व्यवहारिक लोकाचार संन्यासी के भेद संन्यास आश्रम के लोकाचार की समीक्षा प्रस्तुत की गई है।

यह अध्याय मनुष्य को "जीवेमः शरदः शतम्" की प्रेरणा प्रदान करता है। जीवन के अन्तिम क्षणों को सुखमय बनाने हेतु लोकाचार को जीवन में धारण करते हुई आनन्दपूर्वक जीवन जीना चाहिए। समाज एवं राष्ट्र के उत्थान में अपना महत्त्वपूर्ण सहयोग प्रदान करना चाहिए। भारतीय धर्मग्रन्थों एवं वैदिक साहित्य, धर्मसूत्रों का स्वाध्याय करते हुए जीवन को सरल और सहज बनाना चाहिए। लोकाचार को अपनाना और उसके प्रति परिवार, समाज, गाँव , शहर , राष्ट्र एवं विश्व में जागरूकता प्रचारित एवं प्रसारित करनी चाहिए।

अन्त में धर्मसूत्रों में वर्णित लोकाचार की वर्तमान में प्रासंगिकता स्वयं सिद्ध होती है। यह वटवृक्ष रूपी शोधप्रबन्ध इसका प्रमाण है। यह शोधप्रबन्ध समाज एवं शोध जगत में अपने मौलिक चिन्तन को सिद्ध करते हुए लोकाचार के विश्लेषणात्मक स्वरूप को स्पष्ट करने में सहायक सिद्ध होगा ऐसा शोधार्थी का मन्तव्य है।

॥ इति उपसंहार ॥

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची (Bibliography)

प्राथमिक स्रोत (Primary Sources) :-

(क) साक्षात् स्रोत (Direct Source) :-

- *आपस्तम्ब - धर्मसूत्र,* हरदत्त कृत उज्ज्वलावृत्ति सहित, अंग्रेजी अनु.जी बुहलर सेक्रेड बुक ऑफ दि ईस्ट, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली।
- *आपस्तम्ब-धर्मसूत्र,* हरदत्त कृत उज्ज्वलावृत्ति सहित, हिन्दी अनु. डॉ. उमेश चन्द्र पाण्डेय, चौखम्भा संस्कृत संस्थान वाराणसी, वि. स. २०६३.
- *आपस्तम्ब-धर्मसूत्र,* हरदत्त कृत उज्ज्वलावृत्ति सहित, हिन्दी अनु. नरेन्द्र कुमार आचार्य, विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली, २०१०.
- *गौतमधर्मसूत्र,* मस्करि भाष्य सहित, डॉ. वेदमित्रा, वेदमित्रा एण्ड सन्स, नई दिल्ली, १९६९.
- *गौतमधर्मसूत्र,* हरदत्त कृत मिताक्षरा वृत्ति सहित, हिन्दी अनु. डॉ. उमेश चन्द्र पाण्डेय, चौखम्भा संस्कृत संस्थान वाराणसी, १९६६.
- *गौतमधर्मसूत्र,* हरदत्त कृत मिताक्षरा, अंग्रेजी अनु. जी बुहलर, सेक्रेड बुक ऑफ दि ईस्ट, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, १९६५.
- *बौधायन-धर्मसूत्र,* गोविन्द स्वामी रचित विवरण वृत्ति सहित, हिन्दी अनु. डॉ. नरेन्द्र कुमार आचार्य, विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली, १९९९.
- *बौधायन-धर्मसूत्र,* डॉ. उमेश चन्द्र पाण्डेय, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी, २००८

- *मनुस्मृति,* झा प. जनार्दन, सिद्धार्थ बुक्स, दिल्ली, २०११.
- *मनुस्मृति,* डॉ. सुरेन्द्र कुमार, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली, जुन २०००.
- *मनुस्मृति,* पाण्डेय, निर्मल मोहनी, स. पाण्डेय, ओमप्रकाश, चौखम्भा ओरियन्टालिया, दिल्ली, २०१२.
- *मनुस्मृति,* पाण्डेय, निर्मलमोहनी, स.पाण्डेय, ओमप्रकाश, चौखम्भा ओरियन्टालिया, दिल्ली, २०१२.
- *वसिष्ठधर्मसूत्रम्,* बॉम्बे संस्कृत एण्ड सीरीज, बम्बई, १९९५.
- *वसिष्ठधर्मसूत्रम्,* सं. ए.ए. फ्यूहर, इण्डोलाजिकल बुक हाउस, दिल्ली, १९८६.
- *विष्णुधर्मसूत्र,* (विष्णु स्मृति) अंग्रेजी अनु. जे. जॉली, सेक्रेड बुक ऑफ दि ईस्ट, भाग - ७, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६५.

(ख) असाक्षात् स्रोत (Indirect Source) :-

- *अथर्ववेद संहिता,* सायण भाष्य सहित, सं. पं. रामस्वरूप शर्मा गौड, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, २००३.
- *आपस्तम्ब गृह्यसूत्र,* हरदत्त और सुदर्शनाचार्य की टीका सहित, हिन्दी अनु. उमेश चन्द्र पाण्डेय, चौखम्भा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, १९७१.
- *आश्वलायन गृह्यसूत्र,* नारायण भाष्य, सं. गणपतराव यादवराव नातु, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, शक. सं. १९००.
- *ईशादि नौ उपनिषद्,* शाङ्करभाष्यार्थ, गीताप्रेस, गोरखपुर, वि. सं. २०६६.
- *उपनिषद् संग्रह,* पं. जगदीश शास्त्री, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७०.

- *ऋग्वेद संहिता,* मैक्समूलर, एफ., चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, २०११.
- *ऐतरेय ब्राह्मण*, सायणाचार्य कृत, वेदार्थप्रकाश भाष्य सहित, सं. सुधाकर मालवीय, प्राच्य भारती ग्रन्थमाला - १४, वाराणसी, १९८०.
- *कठोपनिषद्,* उपनिषत्समुच्चय, सम्पा.प.भीमसेन शर्मा, हरियाणा साहित्य संस्थान, गुरुकुल झज्जर, २०००.
- *कौषितकी ब्राह्मण,* आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना, १९११.
- *गोपथ ब्राह्मण*, हिन्दी अनु. पं. क्षेमकरण दास त्रिवेदी, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, दिल्ली, १९९९.
- *छान्दोग्योपनिषद्,* भाष्य. पं. शिवशंकर शर्मा, हरियाणा साहित्य संस्थान, गुरुकुल झज्जर, २०००.
- *छान्दोग्योपनिषद्,* भाष्यकार पं. शिवशंकर शर्मा, हरियाणा साहित्य संस्थान, गुरुकुल झज्जर, रोहतक, २०००.
- *तैत्तिरीय ब्राह्मण*, सायण भाष्य सहित, सं. प्रो. पुष्पेन्द्र कुमार, नाग प्रकासक, दिल्ली, १९९८.
- *तैत्तिरीय संहिता,* सम्पा. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, जिला बलसाड, गुजरात, १९८३.
- *तैत्तिरीय संहिता,भारत मुद्रणालय,द्वितीय संस्करण, बम्बई, १९५७.*
- *तैत्तिरीयोपनिषद्,* सम्पा. हरिनारायण आप्टे, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली - १२, आनन्दाश्रम संस्कृत मुद्रणालय, १९०९.
- *धर्मशास्त्र का इतिहास "धर्मद्रुम",* आचार्य राजेन्द्र प्रसाद पाण्डेय, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली,१९९६.
- *पञ्चतन्त्र,* विष्णुशर्मा कृत, डॉ. मोतीचन्द्र, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।

- *पारस्कर गृह्यसूत्र*, भाष्यकार हरिहर एवं गदाधर, हिन्दी अनु. डॉ. जगदीश चन्द्र मिश्र, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, १९९१.
- *प्रश्नोपनिषद्,* सम्पा. हरिनारायण आपटे, आनन्दाश्रम संस्कृत मुद्रणालय, १९११.
- *बृहदारण्यकोपनिषद्,* भाष्य. पं. शिवशंकर शर्मा, हरियाणा साहित्य संस्थान, गुरुकुल झज्जर, २०००.
- *बौधायन गृह्यसूत्र,* सं. शामशास्त्री, मेहरचन्द लक्ष्मणदास पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, १९८२.
- *महाभारत,* भाग १ - ६, गीताप्रेस, गोरखपुर, १९८७.
- *मुण्डकोपनिषद्, उपनिषत्समुच्चय*, सं. पं. भीमसेन शर्मा, हरियाणा साहित्य संस्थान, गुरुकुल झज्जर, २०००.
- *याज्ञवल्क्यस्मृतिः*, मिताक्षरा व्या. सहित, हिन्दी व्या. डॉ. उमेश चन्द्र पाण्डेय, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी वि. सं. २०६५.
- *विशुद्ध - मनुस्मृति*, भाष्यकार प्रो. सुरेन्द्र कुमार, सं. राजवीर शास्त्री, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली, षष्टम संस्करण, २०१२.
- *शतपथ ब्राह्मण*, सं. पं. चिन्नास्वामी शास्त्री, काशी संस्कृत ग्रन्थमाला - १२७, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, वि. सं. २०४०.
- *श्वेताश्वतरोपनिषद्,* सम्पा. प.भीमसेन शर्मा, हरियाणा साहित्य संस्थान, गुरुकुल झज्जर, २०००.
- *षोडशसंस्कारविमर्शः*, मिश्र शङ्कर कुमार, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, २०११.

- *संस्काराणां पर्यालोचनम्,* डॉ. जयकृष्णमिश्रः, दुदुली ऑफसेट्, भुवनेश्वर, प्रथम संस्करण, २००५.
- *सामवेद संहिता,* सायण भाष्य सहित, हिन्दी अनु. सम्पा. प. रामस्वरूप शर्मा गौड, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, २००५.
- *सुभाषितरत्नभण्डार,* सम्पा. नारायण राम आचार्य, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई,१९५२.

द्वितीयक स्रोत (Secondary Source) :-

हिन्दी के ग्रन्थ :-

- अग्रवाल, वासुदेव शरण, *पाणिनिकालीन भारतवर्ष*, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, वि. सं. २०१२.
- अम्बेडकर, डॉ.भीम राव, *शूद्रों की खोज*, गौतम बुक सेन्टर, दिल्ली, जून - २००८.
- अवस्थी, शशि, *प्राचीन भारतीय समाज*, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, प्रथम संस्करण, १९८१.
- आचार्य शिवराज कौण्डिन्न्यायन (व्याख्याकार), *पाणिनीयशिक्षा*, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, १९९८.
- आचार्य, नन्दकिशोर, *मानव अधिकार की संस्कृति*, वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर, २०१०.
- आचार्य, रामदेव, *भारत वर्ष का इतिहास*, (वैदिक तथा आर्ष पर्व), गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय, हरिद्वार, १९९६.

- उपाध्याय, आचार्य बलदेव, *पुराण - विमर्श*, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, २०१०.
- उपाध्याय, आचार्य बलदेव, *संस्कृत साहित्य का इतिहास*, शारदा निकेतन, वाराणसी, २००१.
- उपाध्याय, गंगाप्रसाद, *विवाह और विवाहित जीवन*, विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली, २०१२.
- उपाध्याय, बलदेव, *भारतीया धर्म एवं दर्शन*, चौखम्भा ओरियण्टल, दिल्ली, १९७७.
- ऋषि दयानन्द सरस्वती, *वेदविरुद्धमतखण्डनः*, दयानन्द ग्रन्थमाला, परोपकारिणी सभा, अजमेर, १९८३.
- काणे, डॉ. पाण्डुरंग वामन, *धर्मशास्त्र का इतिहास* (१ - ५ भाग), उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, चतुर्थ संस्करण, १९९२.
- कापड़िया के. एम., अनु. हरिकृष्ण रावत, *भारत में विवाह एवं परिवार*, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६३.
- कुमार, नरेन्द्र, *धर्मसूत्रीय आचार संहिता*, विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली, १९९९.
- कुमार, शशि प्रभा, *भारतीय संस्कृतिः विविध आयाम*, विद्या निधि प्रकाशन, दिल्ली, २००५.
- कृष्णलाल, *वेद परिचय*, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय, निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, प्रथम संस्करण, १९९३.

- कौशिक, डॉ. दिनेश, धर्मसूत्रों और स्मृतियों में प्रतिपादित आह्निक आचार,संजय प्रकासन,२०१९.
- गुप्त, देवेन्द्र कुमार, *सूत्र साहित्य में वर्णित भारतीय समाज एवं संस्कृति*, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, २०१०.
- गुप्त, शिवकुमार, *भारतीय संस्कृति के मूलाधार*, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, प्रथम संस्करण, २००२.
- गैरोला, वाचस्पति, *भारतिय धर्मशाखाएं एवं उनका इतिहास*, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, १९८८.
- गोयल, प्रीति प्रभा, *संस्कृत साहित्य का इतिहास*, लौकिक खण्ड तथा वैदिक खण्ड, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर, राजस्थान, द्वितीय संस्काण, २००६.
- गौड़, विशनलाल, *व्याकरणमहाभाष्यम्*, साहित्य भण्डार शिक्षा साहित्य प्रकाशक, मेरठ, २००५.
- जे. एस. विनायक, *भारतीय सामाजिक संस्थाएं*, भारतीय विश्वविद्यालय प्रकाशन, मेरठ, १९७६ - १९७७.
- जैन, शोभिता, *भारत मे परिवार, विवाह और नातेदारी,* रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर, २०१०.
- जोशी, प्रदीप कुमार, *प्राचीन भारतीय शास्त्रों में वर्णित गृहस्थाश्रम*, क्लासिकल पब्लिशिंग कम्पनी, नई दिल्ली, १९९०.
- झा, तारिणीश, *संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ*, रामनारायण लाल बेनीप्रसाद, इलाहाबाद, प्रथम सं. १९६७.

- झा, दिजेन्द्र नारायण एवं श्री माली, कृष्ण मोहन, *प्राचीन भारत का इतिहास*, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, २००४.
- तातेड़, प्रो. सोहन राज, शर्मा डॉ. मनीषा, *भारतीय प्राचीन एवं नवीन शिक्षा प्रणाली,* दीपक पब्लिशर्स & डिस्ट्रीब्यूटर्स, २०१२.
- तानिया सेबासटियन, अनु. शालू निगम, *बाल विवाह निषेध अधिनियम - २००६*, भारतीय सामाजिक संस्थान, नई दिल्ली, २०१३.
- त्रिपाठी, डॉ. ऋतेश, *धर्मसूत्रों में सामाजिक जीवन - विधि*, मङ्गलम् प्रकाशन, इलाहाबाद, २०१०.
- त्रिपाठी, प्रेमवल्लभ, *पुरुषार्थ चतुष्टय*, अध्यक्ष धर्मशास्त्र एवं कर्मकाण्ड विभाग, वाराणसी।
- त्रिवेदी भवानी शंकर, *संस्कार प्रकाश,* श्री लालबहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली, १९०६.
- थापर रोमिला, अनु. सिंह आदित्यनारायण, *प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास*, ग्रन्थ शिल्पी (इण्डिया) प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, प्रथम हिन्दी सं. २००१.
- थापर, रोमिला, *प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास*, ग्रन्थ शिल्पी, नई दिल्ली।
- दिनकर, रामधारी सिंह, *संस्कृति के चार अध्याय*, लोकभारती प्रकाशन, इलाहबाद, तृतीय संस्करण, २०१०.
- दुबे, डॉ.राजदेव, *स्मृतिकालीन भारतीय समाज एवं संस्कृति* (याज्ञवल्क्य स्मृति के विशेष सन्दर्भ में), प्रतिभा प्रकाशन, प्रथम संस्करण, १९८८.

- द्विवेदी, कपिलदेव, *वैदिक साहित्य एवं संस्कृति*, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, २०१०.
- द्विवेदी, डॉ.कपिलदेव, *संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास,* राम नारायणलाल विजय कुमार, इलाहबाद, २००९.
- नाथाणी, डॉ. दिलीप कुमार, *धर्मशास्त्रों के आधुनिक संदर्भ*, संजय प्रकाशन,२०१९.
- *निरुक्त*, (दुर्गाचार्य की टीका सहीत) सं. वी. के. राजवाड़े, पूना, संस्करण, १९२१ - १९२३
- नेगी, डॉ. सुरेन्द्र सिहं, *नैतिक मुल्यों की प्रासंगिकता*, आदित्य पब्लिशर्स, बीना, मध्य प्रदेश, २०००.
- पंवार, कौशल*, धर्मशास्त्रीय शुद्र अवधारणा*, विद्या निधि प्रकाशन, दिल्ली, २०१०.
- पाठक, पं. श्री जगन्नाथ, *ऋग्वेदभाष्यभूमिका*, सायणकृत, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, २००८.
- पाण्डेय, आचार्य राजेन्द्र प्रसाद, *धर्मशास्त्र का इतिहास, 'धर्मद्रुम',* चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९९६.
- पाण्डेय, राजबली*, हिन्दु संस्कार,* चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, १९५७.
- पाण्डेय, शान्ति, *धर्मसूत्र परिशीलन*, प्राच्य भारतीय संस्थान, गोरखपुर, २०००.
- पी.डी. मैथ्यु, अनु. शालु निगम, *दहेज अपराध संबंधी कानून*, भारतीय सामाजिक संस्थान, नई दिल्ली, २०११.

- पी.डी. मैथ्यु, पी. एम. बक्शी, अनु. माधुरी पाल, *हिन्दू विवाह तथा संबंध विच्छेद,* भारतीय सामाजिक संस्थान, नई दिल्ली, २०१०.
- पी.डी. मैथ्यु,पी. एम. बक्शी, *हिन्दू उत्तराधिकार कानून,* भारतीय सामाजिक संस्थान, नई दिल्ली, २०१३.
- पी.डी. मैथ्यू, अनु. नीलम त्यागी, *विशेष विवाह अधिनियम १९५४,* भारतीय सामाजिक संस्थान, नई दिल्ली, २०११.
- बंसल, नयनतारा, *धर्मसूत्रों का महत्त्व (वर्तमान परिप्रेक्ष्य में),* भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, २००३.
- भारत सरकार विधि और न्याय मंत्रालय विधायी विभाग, *भारत का संविधान,* विधि साहित्य प्रकाशन, भारत सरकार, नई दिल्ली, २०११.
- *महाभारत,* महर्षि वेदव्यास कृत, गीताप्रेस गोरखपुर, १९८७.
- मित्रमिश्र, *वीरमित्रोदय,* चौखम्बा संस्कृत सीरीज - ३०, चौखम्वा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, १९८७.
- मीमांसक युधिष्ठिर, *पाणिनीय शिक्षा,* रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़।
- राजवाडे, विश्वनाथ काशीनाथ, *भारतीय विवाह संस्था का इतिहास,* वाणी प्रकाशन, दिल्ली, २००४.
- रामप्रकाश, *यज्ञविमर्शः एक वैज्ञानिक अध्ययन,* डॉ. राजेन्द्र विद्यालंकार, सत्यार्थ प्रकाश न्याय,१४२५/१३, कुरुक्षेत्र, हरियाणा, तृतीय संस्करण, २००५.
- राय, डॉ. विमला देवी, *वेदकालिन समाज और संस्कृति,* कला प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, २००१.

- वर्मा, डॉ. पूर्णिमा, *भारतीय धर्म मीमांसा*, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपूर, प्रथम सं. २०१३.
- विद्यामार्तण्ड पण्डित सीताराम शास्त्री (हिन्दी व्या.), *निरुक्त*, यास्कमुनि कृत, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, २००२.
- विद्यावाचस्पति, सोहनलाल शास्त्री, *हिन्दू कोड बिल और डॉ.अम्बेडकर*, सम्यक् प्रकाशन, नई दिल्ली, सप्तम संस्करण, २०११.
- विश्वनाथ, *साहित्यदर्पणः*, डॉ. सत्यव्रत सिंह, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, २००७.
- शर्मा डॉ. शंकर दयाल, *शिक्षा के आयाम*, प्रभात प्रकाशन दिल्ली, १९९५.
- शर्मा सुधा, *धर्मसूत्रों में राजधर्म एवं न्याय व्यवस्था*, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, प्रथम सं. २००९.
- शर्मा, कुन्दन लाल, *कल्पसूत्र (वैदिक वङ्मय का विवेचनात्मक बृहत् इतिहास),* सप्तम खण्ड, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान होशियारपुर, पंजाब, १९८१.
- शर्मा, डॉ. मुन्शीराम, *वैदिक संस्कृति और सभ्यता*, ग्रन्थम्, कानपुर, १९८७
- शर्मा, ब्रजकिशोर, *भारत का संविधान एक परिवय*, PHI Learning Private Limited, नई दिल्ली, सातवां संस्करण, २०१०.
- शर्मा, श्री कृष्ण एवं जैन धर्मचन्द, *मानव-जीवन और स्मृतिशास्त्र*, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर, राजस्थान.
- शर्मा, सुभाष, *शिक्षा और समाज*, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, २००७.
- शास्त्री, गोविन्द, मनुस्मृति (कुल्लूक टीका) चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी।

- शास्त्री, ज्वलन्तकुमार, *वेद और वेदार्थ,* श्री घुडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास, हिण्डौन सिटी, राजस्थान, २००९.
- शास्त्री, सत्यप्रिय, *ऋग्वेद में आचार सामग्री,* श्री घुडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास, हिण्डौन सिटी,राजस्थान, २००६.
- शुक्ल, सच्चिदानंद, *हिन्दु धर्म के सोलह संस्कार,* प्रतिभा प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, २०१२.
- *श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण,* महर्षि वाल्मीकि प्रणीत, प्रथम खण्ड तथा द्वितीय खण्ड, गीताप्रेस गोरखपुर, वि. सं. २०६८.
- सरस्वती, दयानन्द, *संस्कार - विधिः,* विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली, २०१०.
- सरस्वती, दयानन्द, *सत्यार्थ प्रकाशस,* विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली, २०१०.
- सरस्वती, महर्षि दयानन्द, *ऋग्वेदभाष्यभूमिका,* विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द, प्रथम संस्करण, २०११.
- सरस्वती, स्वामी दयानन्द, *संस्कार भास्कर,* रामलाल कपूर ट्रस्ट,१९९२.
- सर्वपल्ली, डॉ. राधाकृष्ण, *धर्म और समाज,* सिलवर बैल, शाहादरा, दिल्ली, २०१२.
- सिंह, फ़तह, *वेदविद्या का पुनर् उद्धार,* वेद - संस्थान, नई दिल्ली, २००४.
- सिद्धान्तालंकार, सत्यव्रत , *संस्कार - चन्द्रिका,* विजयकृष्ण लखनपाल, नई दिल्ली.

- स्वामी, जगदीश्वरानन्द, *वैदिक विवाह पद्धति,* विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली, २०११.

शोधप्रबन्ध :-

- कुमार, गजेन्द्र, *धर्मसूत्रीय विवाह पद्धतियों का समालोचनात्मक अध्ययन*, एम. फिल्, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, २०१४
- कुमार, सर्वेश, *विधि और प्रशासन का गौतम, बौधायन एवं आपस्तम्ब धर्मसूत्रों के सन्दर्भ में समीक्षात्मक विश्लेषण*, एम. फिल्, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, २०१२
- कौशल्या, *धर्मशास्त्रों में शूद्र (प्रमुख पाण्डुलिपियों के विशेष सन्दर्भ में)*, पीएच. डी., जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, २००८
- शास्त्री, प्रतिभा, *नागरिकों के कर्तव्य एवं अधिकारों का विश्लेषण : गौतम, आपस्तम्ब, बौधायन एवं वसिष्ठ धर्मसूत्रों के विशेष संदर्भ में*, एम. फिल्, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, २०१३

अंग्रेजी के ग्रन्थ :-

- A.S. Altekar, *The Position Of Women In Hindu Civilization*, Motilal banarasidas, jawahar nagar, Delhi, १९६२.
- Agrawal, R. K., *Hindu Law*, Central Law Agency, Allahabad, २००३.
- Banerji, S.C., *A Brief Historu Of Dharmasastra,* Abhinav Publication, New Delhi, १९९९.

- Burgess & Locke, *The Family,* American Book Company, 1St Edition edition, १९४५.
- Diwan, Paras, *Modern Hindu Law,* Allahabad Law Agency, १९९२.
- Mani, B. N., *Law of Dharmsastra*, Navrang, New Delhi, १९८९.
- Nigma Shalu, *Offences Relating To Marriage*, Indian Social Institute, New Delhi,११०००३, २००९.
- Ram Gopal, *India of Vadic Kalpa Sutras*, Motilal Banarsidass, Delhi, 1st Edition, १९८३.
- Srinivas, M. N., *Social Change in Modern India*, Orient Longman, Delhi, १९९५.
- Wilson, H. H., *Hindu Religion*, Bhartiya Vidya Prakashan, Delhi.
- उबेरॉय, पैट्रिशिया, *फैमिली, किनशिप एण्ड मैरिज इन इंडिया*, ऑक्सफ़र्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, १९९३.
- कापड़िया, के. एस., *मैरिज एण्ड फैमिली इन इंडिया,* ऑक्सफ़र्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, मुम्बई, १९९५.

कोश ग्रन्थ :-

संस्कृत :-

- अमरसिंहः, *अमरकोशः*, पं. शिवदत्तदाभिधः, राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्, नई दिल्ली, २००६.
- बहादूरेण, राधाकान्तदेव, *शब्दकल्पद्रुम*, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९६१.
- बासु, हरिचरण, *कल्पद्रुम,* नाग प्रकाशक, दिल्ली.
- ब्लूमफिल्ड, मैरिस, सं ओमना विमली, *वैदिकपदानुक्रमकोशः,* पब्लिकेशन्स, दिल्ली, २००४.
- भट्टाचार्य, श्रीतारानाथ तर्क वाचस्पति, *वाचस्पत्यम्,* चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९६१.
- वर्णेकर, श्रीधर भास्कर, *संस्कृत वाङ्मय कोष,* भारतीय भाषा परिषद्, १९८८.
- सिंह, अमर, *अमरकोष,* निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९६१.
- हंसराज एवं भगवदत्त, *वैदिक कोष*, अनुसन्धान परिषद् ज्ञानपुर, वाराणसी, १९९९.

अंग्रेजी - संस्कृत :-

- Williams, Monier, *English-Sanskrit Dictionary*, Munsi Ram Manohar Lal, Delhi, १९७६.

संस्कृत - हिन्दी :-

- आप्टे, वामन शिवराम, *संस्कृत हिन्दी कोश*, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९८९.
- शर्मा, डॉ. ईश्वर चन्द्र, *पारिजात - कोशः*, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, २००५.
- शास्त्री राजवीर, *वैदिक - कोश,* श्रीमद् दयानन्द वेदार्थ महाविद्यालय गुरुकुल, गौतम नगर, नई दिल्ली, २०१०.

अंग्रेजी - हिन्दी :-

- Verma, Ed.S.K., Sahai R.N. *Oxford English-Hindi Dictionary*, Oxford University Press, London, २००७ .
- कामिल, बुलके, *अंग्रेजी - हिन्दी कोश*, एस.चन्द एण्ड कम्पनी, रामनगर, दिल्ली, २००४.

अंग्रेजी :-

- *Encyclopedia Britannica*, Helen Hemingway Publication, Benton, १५th Edition, १९७३ - १९७४.
- Hestings, James, *Encylopedia of Religion and Ethics,* Vol. - viii, New York, १९८०.
- Hornby, A.S., *Oxford Advanced Learner's Dictionary of Current English,* Oxford University Press, London, २००५.

हिन्दी :-

- शर्मा, ए.एन., *मानवशास्त्र शब्द कोश*, जैन प्रकशन मन्दिर, जयपुर, २०११.

अन्तर्जालीय स्रोत :-

- http://hi.brajdiscovery.org
- http://www.britannica.com
- http://www.hindunet.com
- http://www.jstor.com
- http://www.wikipedia.com

॥इति॥